प्रकाशकी खोजमें

श्री वीरेन्द्र कुमार

भूमिका :

श्री जैनेन्द्र कुमार

हिन्द किताब्स लिमिटेड
बम्बई

प्रथम संस्करण १९४८

मूल्य ३)

मुद्रक : कन्हैयालाल शाह, ओरियंट प्रिंटिंग हाउस, बम्बई २
प्रकाशक : वी. कुलकर्णी, हिन्द किताब्स लि०, २६१-२६३ हॉर्नबी रोड, बम्बई.

पादार्घ्य

तथागत बापूके

चिर गतिमान चरणोंमें

देव,

अपने प्राण-दानसे जो प्रकाशकी अमर लकीर तुम खींच गए हो,

उसके सम्मुख आज मेरी खोज स्तंभित खड़ी रह गई है;

प्रश्न और तर्क पराजित हो गया है।

वरदान दो

कि सर्वको निरपेक्ष भावसे प्यार कर सकूँ,

क्रोध, विद्वेष और घृणासे अपनेको मुक्त कर सकूँ,

मेरे हाथ अक्षर जब भी लिखा जाए

वह सर्वके प्रेमके लिए हो,

वह सर्वकी समताके लिए हो,

वह सर्वोदयके लिए हो !

अभिनन्दन

यह पुस्तक इधर कई दिनोंसे मेरे साथ है। उठाई है, पढ़ी है और रख दी है। फिर उठाई है, फिर पढ़ी है और फिर रख दी है। जैसे बिजलीका जीना तार छू जाता हो, कई बार तो उसके शब्दोंसे ऐसी हालत हुई है। एकाएक तब स्तब्ध रह जाना पड़ा है और आगे पढ़ना नहीं बन सका है। तब अपने ही से छिटक कर खोया-सा रह गया हूँ। ऐसा कम होता है और होता है तब बड़ा अच्छा लगता है। मैं तो उस रचनाके प्रति कृतज्ञ होता हूँ, जो क्षणके लिए ही सही, मुझको मुझसे छुड़ा दे।

पश्चिमके देश 'प्रकाशकी खोजमें' चलते-चलते विज्ञानसे टकरा गए। उसमें से तो फिर विभूति निकल पड़ी। उस विज्ञानने उनको सफलता दी और प्रबलता दी। मानों तब वे अपनेसे कह उठे कि यही है वह प्रकाश, जो हम खोजने चले थे। और सचमुच प्रकाश जैसा वह दीखा भी। उसने उन्हें बढ़ावा दिया और तरक़्क़ीकी रफ़्तार तेज़ हुई। वह तरक़्क़ी इतनी हुई कि दुनिया छोटी पड़ आई। हविसें थीं कई, और बड़ी-बड़ी। इससे तरक़्क़ीमें उपनिवेश बने, यानी साम्राज्य और गुलाम देश बने तो नतीजेमें लड़ाई ज़रूरी हो आई। लड़ाई भी वह जो कुछकी न हो, बल्कि सबकी हो। उसके बाद तो फिर मालूम हुआ कि रहना, जीना, बोना-बनाना-उपजाना सब इसी लिए हैं कि हम लड़ें और दुश्मनको ज़ेर करें। युद्ध और संहार एक जीवन-दर्शन ही बन आया और वह सब-कहीं छा गया। ज़्यादा सभ्य और विज्ञ और समृद्ध वही देश समझा गया जो शत्रुतामें ऊँचा ठहरे और जिसका दबदबा ज़बरदस्त हो।

उस सभ्यताका दौर अब भी चल रहा है और जान पड़ता है, उसके चरमोत्कर्षका बिन्दु दूर नहीं है। जाने कब नया युद्ध सिर पर आ टूटे।

पर प्रवाहमें बहते-बहते भी आदमीके मनमें शंका घर किए जा रही है कि क्या यह प्रकाश है? उन्नति है? यह प्रचुरता क्या सिद्धि है? यह संशय पश्चिमके विचारकोंको बहुत मथने लगा है और कहा जा सकता है कि यह अन्तर्मन्थन देर-सबेर ज़रूर फूटेगा और फल लाएगा। एक नव-जन्म होगा।

इस नवोदयकी आशामें बहुतोंकी भारतकी ओर टकटकी है। भारत वस्तुके पीछे नहीं पड़ा, आत्माकी ओर ही उन्मुख रहा। ऐसे वह पिछड़ा, दीन और हीन माना गया। लेकिन जब मूल्य उलटेंगे, अभिमान रोग साबित होगा और ऐश ऐब, तो क्या जाने तनका कृश पर मनका धनी भारतही सबकी आँखोंका तारा बन आए!

इस पुस्तकके लेखक उन आस्थावान् व्यक्तियोंमें से हैं, जो भारतीय प्रकृतिके अनुरूप जगतके पीछे आत्माको नहीं छोड़ सकते। अपने प्रति ईमानदारी ही उनकी टेक है। हर मत और हर वादको वह अपनेपर कसते और अपनी अनुभूतिपर तौलते हैं। उनके शब्द इसलिए मौलिक और मार्मिक हैं और उनका स्थायी मूल्य है।

कुछ उद्धरण लीजिए:—

"कला तो आत्म-दर्शनकी साधना है। इसलिए वह सदा आत्म-लक्ष्मी ही रहेगी। समूहवादी या समाजवादी होकर कला अपनी सचाई और ईमानदारी खो बैठेगी। तब वह उसी स्तरपर आ जाएगी जहाँ राजनीति है या अर्थशास्त्र।"
"अनुभूति व्यक्तिकी ही होती है, समूहकी नहीं। इसलिए कलामें व्यक्ति ही अभिव्यक्ति पाता है।......कलाकारके निष्कर्ष सीधे विश्व-संघर्षके निष्कर्ष न होकर, वे उसके आत्म-मंथनके, उसके आत्म-संघर्षके निष्कर्ष हैं। इसीलिए वे स्वयंसिद्ध हैं और सबके अपने हैं। उनमें सामयिकता, क्षणिकता, राष्ट्रीयता, एक-देशीयता या परायापन नहीं है।"

"आजका बुद्धिवादी व्यक्ति विचारमें परात्मक दृष्टा है कट्टर, पर आचरणमें वह नितान्त स्वात्मक है। अपनी बात कहनेसे उसे फुरसत नहीं और दूसरेकी बात सुननेका उसे धैर्य नहीं। सब अपनी-अपनी कहते हैं और सुनता कोई किसीकी नहीं है।...ऐक्यका स्थल जो हृदय है उसे बुद्धिवादने भावुक क़रार देकर इनकार कर दिया है। अपनी भौतिक शक्ति और कर्तृत्वपर मनुष्यका आवश्यकतासे अधिक विश्वास है। इसलिए परोक्ष धर्म और आदर्श की हम खिल्ली उड़ाते हैं। यही है वह दाम्भिक अहं जो व्यक्तिसे लगाकर समाज,राष्ट्र और विश्व तकके आजके इस दारुण संघर्षका दायित्व सँभाले है।"

नामोंका आतंक भी लेखकको नहीं है। एकका आतंक दूसरेके प्रति अवज्ञाका कारण होता है। उदभट्ट मार्क्सको लेकर लेखकका कहना है कि—

"मनुष्यका एक इकाईके रूपमें परात्मक अध्ययन वे न कर पाए थे। मनुष्य-समाजको पशु-समाजकी तरह एक ऑर्गेनिज़्मके रूपमें मानकर ही मार्क्सने बाहर-बाहरसे नितान्त परात्मक विचार किया था। इस यांत्रिक दृष्टिकोणमें स्वतन्त्र मानव-चेतना या मानव मनकी सर्वथा उपेक्षा हो गयी। सिद्धान्तमें व्यक्ति लोप हो गया। लोप हो गया विचार-भूमिसे, पर उसकी सत्ताको कौन मिटा सकता था। इसी उपेक्षित व्यक्ति-सत्ताने अवसर पाकर, समाजवादके सारे बाह्य विधानके ऊपर होकर चुपचाप अपनी शक्ति संचय कर ली और यहीं कहींसे डिक्टेटर अस्तित्वमें आ गया।"

पुस्तक इस तरहके गम्भीर मन्तव्योंसे जड़ी पड़ी है। उनको किसी बाह्य प्रयत्नसे वहाँ जुटाया नहीं गया है। कतिपय स्फुट निबन्ध हैं और अमुक लक्ष्यसे वे मन्तव्य नवनीतकी तरह सहज ऊपर तैर आए हैं। संक्षेपमें पुस्तक एक गम्भीर और महत्व-पूर्ण सृष्टि है, जो भावुक और स्वाध्यायशील हृदय की मर्मानुभूतियोंको व्यक्त करती है।

आशा है यह कृति अपने योग्य आदर पाएगी।

७, दरियागंज, दिल्ली
१९ दिसम्बर, १९४७

जैनेन्द्र कुमार

आज खोज स्तम्भित है !....

लोकके तीर्थंकरका परिनिर्वाण हो गया है। सकल चराचर इस घड़ी स्तंभित रह गया है। विश्वकी प्राण-धारा मानों एकाएक लोप हो गई। अस्तित्वका आयतन थर्रा उठा है और तत्वोंकी गति जैसे थम गई है। पंच महाभूतोंकी समष्टि बिखर गई है और अमर सत्यकी लौ प्रकट होकर अनन्त में लीन हो गई है। वास्तवकी यह दुनिया आज व्यर्थ हो पड़ी है; वह अपनी नहीं लग रही। जीव मात्रका पुण्य सिमट गया है, इसीसे सर्व भूतका एकमेव जीवित आत्मीय आज धरती परसे अन्तर्धान हो गया है।

गाँधीके मानवी बिछोहसे समूचा प्राणीत्व अनाथ हो उठा है, वह 'त्राहि-माम्' पुकारकर रो उठा है। इस आघातने जन-जनके हृदयमें वह रिक्त छोड़ा है, वह घाव किया है, जिसकी कल्पना भी नहीं रही होगी। गाँधीने आज प्राण देकर प्रमाणित कर दिया कि सार्वभौम सत्ताके हृदयपर उसका सिंहासन बिछा था। समुद्र-पर्यन्त पृथ्वीके चारों कोनोंसे सारी प्रभुताओंके प्रभु उसके इस आत्म-दानके सम्मुख आँसूभरी आँखोंसे विनत हो गए हैं। कई सम्राट गए, अपने प्रताप और विक्रमसे इस धरतीको थर्रा देने वाले कई विजेता और चक्रवर्ती गए, कई देश-भक्तोंने अपनी कुर्बानियाँ चढ़ाईं; कई ज्ञान के धुरंधर और विभूतियोंके धनी गए, पर उनके बिछोहका शोक एक भूखण्ड तक ही सीमित रहा। पर गाँधीके महाप्रयाण पर आज सारी पृथ्वीकी संयुक्त शक्तियोंके झंडे झुके हैं! क्या मनुष्यके जाने हुए इतिहासमें ऐसा कभी हुआ है?

स्वयम् आत्म-देवताने उसकी रक्त-मांसकी कायामें अवतार लिया था। हम अपने ही अज्ञान और पापसे इतने अधिक घिरे थे कि उसे पहचाननेमें समर्थ न हो सके। एक ओर यह अज्ञान और विद्वेष जितनाही प्रबलतर हो रहा था, दूसरी ओर सत्य और प्रकाशकी मांग उतनीही तीव्रतर हो रही थी मनुष्यपर मनुष्यका अविश्वास इस सीमातक बढ़ा कि परम पुरुषके मानवी रूपपर भी हम विश्वास न कर सके। हमने उसे त्याग दिया, उसके सारे

विधानोंकी उपेक्षा कर दी; उसके सत्य, अहिंसा, चरखा और खादी–सब कुछ को हमने अव्यवहारिक क़रार दे दिया। पर उसने कभी इस बातका गिला नहीं किया, शिकायत नहीं की और अपने जीवनकी अन्तिम सांसतक वह हमारे साथ खड़ा रहा। हमें उसके दैहिक व्यक्तित्वकी सीमा जैसे असह्य हो उठी थी; हम सत्यको नग्न देखना चाहते थे। इसीसे अनेक तीखे प्रश्नों और संशयों की ज़लती शूलियाँ हमने उसके आस-पास खड़ी कर दी थीं। उस सारी आग को अपनी शैयाकी तरह अपना कर, उसमें अपनेको दिन-रात तपा-तपाकर उसने अपनेको गला देना चाहा—बहा देना चाहा, कि किसी तरह वह अपनी बात हमतक पहुँचा सके। पर हमें संतोष न हो सका; हमें विश्वास न हो सका। हाय हाय रे अभागे मनुष्य! ऐसा प्रबल था तेरा पाप? तीर्थंकरने चारों ओरके उस अभेद्य अन्धकारको अनुभव किया; उसने समझ लिया कि इस चोलेकी सीमाको तोड़े बिना निस्तार नहीं है। इसीसे उसने हाथ जोड़ कर हँसते-हँसते हमारी खड़ी की हुई शूलियोंपर अपना हृदय बिंधवा लिया, और यों आज साँझ वह अपनी सत्ताके सत्को सिद्ध कर गया।

ओ रे मनुष्य! क्या अब भी तेरे अभिमानका वज्र नहीं गलेगा? क्या अब भी धरतीपर हिंसाका यह खूनी खेल बन्द नहीं होगा? ओ मेरे भीतरके पामर प्रेत, ओ हिंदुओ, ओ मुसलमानो, ओ जाति, संस्कृति, राष्ट्र, वर्ग और धर्म–भेदकी निर्जीव पाषाण-प्रतिमाके पुजारियो, बहुत दिन इन अज्ञातके पत्थरों से तुमने अपना सिर फोड़ा है! पर अपने ही आत्म-घातके सिवा तुम्हें इनमें से क्या मिल सका है? ओ अर्थ और सत्ताकी महत्ताके गुलामो! ओ अमेरिका, ओ रूस, ओ इंगलैंड, ओ प्रजातन्त्रके नामपर सत्ता और शोषणकी सौदागरी चलाने वालो, ओ हिंसाके मूर्तिमान दानव पूंजीवाद! क्या अब भी तुम्हारे ओठोंकी यह सर्वग्रासी तृष्णा नहीं बुझेगी? क्या अब भी भोग और अधिकारका यह सत्यानाशी मद नहीं उतरेगा?

ओ विश्व-विजयके अभिमानियो, ओ हिंसाके पागलो, छिन भर रुको, झुको और देखो, दिल्लीकी इस धरतीपर यह व्यक्ति-गांधी का रक्त नहीं गिरा है; यह समूची मानवताके आत्म-घात का रक्त है। हमने अपने ही हाथोंसे अपने ही हृदयमें गोली मार ली है। इस रक्तके एक ओर अथाह जीवनका अमृत-सागर लहरा रहा है, और इसके दूसरी ओर प्रलयका अन्ध काल-समुद्र गरज

रहा है। ओ विश्वकी गतिविधियोंके शस्त्रधारी प्रभुओ! चुनो, कौन-सी दिशा तुम चुनना चाहते हो...? मत बढ़ो महायुद्धोंकी उस मरीचिकाकी ओर। वहां मानव-भाग्यका अंतिम फैसला नहीं है, वहां कल्याण नहीं है, वहां जीवन नहीं है। वहां है केवल अन्तहीन मौतकी अँधेरी रात, जिसका कोई कूल किनारा नहीं।

ओरे आदमके बेटे! तुझे यह घमण्ड है कि तूने अपने विज्ञानसे तत्व की सत्ताके अंतिम अंश तक को तोड़ दिया है, तूने समुद्र और आकाश चीरे हैं, तूने हवाओंपर आरोहण किया है, तूने तत्वको बन्दी बनाकर उसका मनमाना उपयोग किया है? तुझे गर्व है कि तूने इस निखिल प्रकृति के सीमा चिन्हों पर विजय पाई है! पर उसमेंसे क्या निकाला है तूने? मौत—सत्यानाश—जीवन मात्रका घात करनेवाला महामरण, एटम-बम? लेकिन इधर देख, गाँधी ने अपना हृदय चीरकर दिखा दिया है कि यहां छिपा है अमर जीवनका मर्म! उसके प्राणोत्सर्गकी यह लौ पुकारकर कह रही है कि जीवनका सत्य तोड़नेमें नहीं, जोड़नेमें समाया है। प्रकृतिके इस वल्लभ-विजेता गांधीको देख! बलात्कार द्वारा नहीं, प्यार द्वारा उसने प्रकृतिका हृदय जीता था, उसने अणु-अणुकी स्पंदनशील सत्ताके साथ अपने प्राणको एकतान कर दिया था। इसीसे उसके प्रकृति-विजयमें से अनन्त जीवनके स्रोत फूट पड़े हैं। उसका समूचा जीवन प्रकृतिके अंतरमें बहनेवाले अनहद आनंद-संगीतकी स्वर लिपिहै। अपने दुर-भिमानोंके आवरण अपने मष्तिष्कोंपरसे हटाकर, क्या आज भी हम उस स्वर-लिपिको समझनेकी कोशिश करेंगे?

अपने विचार-चिंतनको लेकर आज कुछ भी कहनेकी इच्छा शेष नहीं रह गई है। आत्मोत्सर्गकी इस अमर लौने दिशांतोंके पार निःसीम शून्यमें प्रकाशकी एक लकीर-सी खींच दी है। मनुष्यकी सारी जिज्ञासाएं, सारा ज्ञान, विज्ञान और खोज, सारे तर्क-वितर्क और प्रश्न आज थमकर इस प्रकाशके सम्मुख प्रणत हो गए हैं। नाना सिद्धांतोंके वाद-विवाद और कोलाहल आज मानों व्यर्थ होकर शांत हो गए हैं। फिर मेरी क्षुद्र चिन्तनाका क्या मूल्य है, और उसके इति-हासका क्या जिक्र हो सकता है? इसीसे चुप रह जाना चाहता हूँ। क्योंकि आज प्रज्ञा स्वयम् नग्न होकर अपने तेजसे प्राण-प्राणके जड़त्व को चीर रही है। चरम दुर्भाग्य है उसका, जो इस अग्निमें अपने सारे मोह-मद और

अहंकारोंको जलाकर, अविकल्प प्रेम और श्रद्धासे अपनी आत्माको नहीं भर लेता।

गांधी-निर्वाण तिथि,
३० जनवरी, १९४८
आर्य-संघ, मलाबारहिल्स बंबई

—वीरेन्द्र कुमार

सूची

बिखरे सूत्र

जो कुछ लिखा है, न्याय और तर्क की कसौटी पर कसे हुए दार्शनिक सत्य ये नहीं हैं; ये तो एक जिज्ञासु की समझने-सोचने की कोशिशके सहज परिणाम हैं। सत्यमार्ग का पन्थी हूँ; अब तक की यात्रा मे जो कुछ देखा-समझा, पाया और अनुभव किया है, वही कह रहा हूँ। मंज़िले.मक़सूद पर पहुँचकर सत्य की घोषणा करने का दावा इनके पीछे नहीं है। जो कुछ लिखा है, अपने विशिष्ट दृष्टिकोण से। हो सकता है, दूसरे दृष्टिकोण से वही बात दूसरे रूप में समझमें आए। मैं तो अनेकान्तवादी हूँ—सत्य को अन्तिम नहीं मानता। अपनी बात को अतर्क्य में नहीं कहता; पर मुझे विश्वास है, मेरी अभिव्यञ्जना सत्य को छू ज़रूर पाती है और अपने विचार को अतर्क्य कहना तो मिथ्यात्व है, कोरा दम्भ है। तर्क के पारे की नींव पर कुछ भी नहीं ठहर सकता। तर्क हमें उलझाये ही रखेगा, सुलझा नहीं सकता। तर्क के साथ श्रद्धा ज़रूरी है; उसके बिना शांति या सुस्थिरता हम नहीं पा सकते।

इसीलिए स्वीकार कर लेता हूँ कि बौद्धिक, तार्किक या वैज्ञानिक विश्लेषण भर ये नहीं हैं। मुझ पर कुछ विशिष्ट दार्शनिक, धार्मिक या संस्कारिक प्रभाव हैं और मेरे कुछ विश्वास बन चले हैं जिनके आधार पर ये बातें कहने का दुःसाहस किया है। विचारकों की दुनिया में ये अर्थ नए हैं, इसलिए इनके लिए खतरा ज़रूर है, पर बुद्धि और हृदय से जो कुछ सोचा, समझा, अनुभव किया और पाया है उसे सामने रखने में झिझक क्यों हो? विषय-क्रम इस लेख में नहीं है—बिखरे-बिखरे विचार हैं। प्रवचन के रूप में भिन्न-भिन्न विषयों पर जो सूझता गया, कह चला हूँ।

मैं जो ये नाना कलामूर्तियां निर्माण करता हूँ—इनमें मैं अपनी आत्मा को ही विभिन्न रूप देता हूँ। मैंने जो ये कुछ रहस्यमयी सरला बालिकाओं के चरित्र चित्रित किये है, वे तो मेरी आत्मा की बालिकाएँ (daughters of soul) हैं। प्रश्न हो सकता है; तुम्हारी आत्मा लड़कियों ही में क्यों अभिव्यक्ति पाती है? हाँ, मैं लड़कियों के लिए लड़के निर्माण करता हूँ—या यों कहिये कि स्त्री में से पुरुष निर्माण करता हूँ। नारी ही सृष्टिका मूल, प्रकृत, निसर्ग रूप है। नारी सम्पूर्ण-अखण्ड है और पुरुष उसका अंश बालक; पुरुष सदा उसकी गोद में है। वह नारी अन्ततः सदा माता है; उसकी सारी यौवन-लीलाओं में होकर ही उसके परम लक्ष्य मातृत्व का विकास है। इस अंश या बालक-रूप पुरुष को नारी की इसी अखण्ड मातृ-शक्ति पर विजय पाना है, और अपनेही में सम्पूर्ण हो जाना है। नारी, सृष्टि, प्रकृति, ये पर्यायवाची शब्द कहे जा सकते हैं—और अपने सच्चे अर्थ में परस्पर एक दूसरे में गर्भित हैं; इनमें परस्पर बड़ा सूक्ष्म सामंजस्य है, अन्तर की आत्मीयता है; इनका भेद भी बड़ा सूक्ष्म है। प्रकृति को जब हम उसके निसर्ग रमणीय, नग्न रूप में देखते हैं तो उसमें की जो मोहक या आकर्षक शक्ति है, वह नारी ही है।

वेदांतियों की भाषा में ईश्वर ही प्रकृति में अभिव्यक्ति पाता है।

वैज्ञानिक दृष्टि से देखे तो पुद्गल (matter), धर्म (motion), अधर्म (station), आकाश (space) और काल (time) आदि तत्वों के साथ जब आत्मा का सम्बन्ध होता है, और उससे जो विकृतिरूप परिणमन होता है, उसे ही हम सृष्टि या प्रकृति कहने के आदी हो गये है। जिसे हम प्रकृति कहते हैं, शुद्ध वैज्ञानिक दार्शनिक उसे विकृति कहेगा। परमात्मा या आत्मा माया के मोहिनीमय रमणीय रूप में जन्म लेता है और स्वयम् उसकी गोद का शिशु बन जाता है। पुरुष कलाकार में छिपकर बैठे हुए परम-पुरुष के पौरुष का यह तक़ाज़ा है कि वह स्वयम् नारी की सृष्टि-परम्परा का साधन न बनकर उसको अपने आत्म-दर्शन का साधन बना ले। प्रकृति-माया या नारी में अभिव्यक्ति पाकर, अपने को अंशों में बिखेर कर—खण्ड-खण्ड करके, आत्मा जो अपने को भूल गया है, वह नारी-तल के दर्पण में अन्ततः अपने दर्शन कर लेना चाहता है—अपने को पा लेना चाहता है; वह नारी के सारे मोहान्धकारों के अशेष स्तरों को भेदकर उसमें से अपने को पहचान लेने के लिए ही सदा अपने चिन्तन और भावना की वृत्तियों द्वारा नारी-मन्थन में प्रवृत्त रहता है; और अपने को पहचान कर कह उठता है—कि अरे अन्ततः मैं हूँ—यह बाहर जो कुछ है, यह आत्म-छल है—विकृति है। इसीलिए पुरुष कलाकार अपनी भावनाके गहरेसे गहरे तलमें डूब-उतरा कर भी अपनी बौद्धिक चेतनाके द्वारा नारी-सृष्टि या प्रकृतिको चुनौती देता-सा लगता है; मानो वह विद्रोह करता है। इसीलिए जीवन में पुरुष कलाकार नारीके साथ सदा संघर्ष पर रहता है। वह उसके आलिङ्गन में बँधनेको बेबस होकर भी उसके भुज-बन्धनों को तोड़ देने के लिए जूझता है। उसमें यह अकुलाहट है कि वह नारी के तल को पा ले, उसमें के सत्य को उपलब्ध कर ले, उसकी मोहिनी के वज्र-कठोर दुर्ग को तोड़कर उसमें से अपने को मुक्त कर ले। वह उसमें अभिव्यक्ति पाने से मानो इन्कार करता है, वह अपने को उसकी गोदका शिशु बनाने को जैसे तयार नहीं है। जर्मनी का वह अमर दार्शनिक प्रेम-कवि गटे कलाकारकी इस वृतिका ज्वलन्त उदाहरण है।

उसके हृदय लिखनेवाले अक्षरोंकी ओट कितनी सरला कुमारियोंके भोले आत्म-समर्पण विलख रहे हैं; उसकी उन अमर पंक्तियों में कितनी षोड़शी बालिकाओं के विचार-शून्य, अपूर्ण, अधूरे, कच्चे हृदय आँसुओं में भीगे बच्चों की तरह सिसकियां भर रहे हैं, कितनी आँसू की बूँदें ढुलकाती निर्दोष, नीली आँखें टकटकी लगाये है। विश्व-साहित्य के वे अमर ग्रंथ कितने प्राणों की चुनी समाधियां हैं, कितने घायल हृदयों के टुकड़े है, कितने अरमानों का चूरा है। उन कड़ियों में लुढ़कनेवाला रस कितनी कलियों के अविकच हृदयों की असमय की लूट है, यह सब कुछ दुनिया नहीं जानती। उसकी भावी महानता ने उसे किसी का न होने दिया। कितनी ही जीवन की डालियों पर वैभव के दुलारों में झूलती कुमारियों को अपने संकेतों की अँगुलियों से तोड़कर, अपने क्षणिक जिज्ञासा-उल्लास की पहली ही हिलोर के उतार के बाद, उन्हें कुचलकर उसने दुनिया के प्रवाह पर फेंक दिया। उसने कितने ही हृदयों से खिलवाड़ किया, पर उसकी भावी महानता ने उसके जीवन को किसी के खिलवाड़ का साधन न बनने दिया। उसके जीवन का इतिहास समय की पलकों में कितनी ही सरला कुमारियों की नीली आँखों के आँसुओं से लिखा हुआ है। हाँ, वह विश्व का महान कलाकार, अपनी कड़ियों के के लिए अमर कहा जानेवाला महाकवि था।

तो पुरुष कलाकार नारी या प्रकृति में होकर उसके नाना सौन्दर्य-रूपों से आकर्षित, विकर्षित, सङ्घर्षित-सम्बन्धित होकर उनमेंसे आत्मोपलब्धि करता है। कलाकार का नारी से प्रेम करना उसके साथ युद्ध करना है, खे खेलना है। उसमें वह समर्पणमय होकर, आत्मविसर्जन कर अपना देह-योग देता है, आत्म-योग की उपलब्धि के लिए। वह जिज्ञासा से कातर है—आत्म-निवेदनाकुल है। नारी के मुख को देख जो उसकी आँखों में आँसू भर आये हैं, वह तो उसके आत्मदर्शन की व्याकुलता है। आत्म-दान के चिरन्तन् वेदना-ज्वलित यज्ञ की ज्वालाओं में से उसे आत्मोपलब्धि

होती है। सौन्दर्य को देख कर जो उसे पीड़ा होती है, वह जिज्ञासा है, जानने की आकुलता है; दार्शनिक की भाषामें वही ज्ञानतृष्णा है; वह सौन्दर्यके दर्पण में अपने को देखना चाहता है, उसकी पीड़ा सौन्दर्य को पारदर्शी बनाने के लिए होती है।

विराट् प्रकृति के राशि-राशि सौन्दर्य को देख कर कवि के हृदय में जो हूक उठती है, जो संवेदन-स्पन्दन होता है, वह इसलिये कि महानारी की यह परम रमणीय, आवाहनमयी नग्नता उसे बरबस अपनी ओर खींचती है। चिर आलिंगन-तत्पर दिशाओं के मौन-मुग्ध आमन्त्रणसे विह्वल हो इस मोहमयी को एक साथ अपने बाहुपाश में बाँधकर अपने प्राणों में भर लेने के लिए वह बेचैन हो उठता है। वह उस समस्त सौन्दर्य को अपनी आत्मा में बाँध लेने की विकल चाह है। वह अपने को उस सौन्दर्य-पाशमें बँधकर रहने देना नहीं चाहता। सौन्दर्यके नाना रूपोंमें अपने को बिखेर कर, खण्ड-खण्ड करके वह त्रस्त-व्याकुल है। वह तो आत्म-संग्रह कर प्रकृति के नाना रूपों को एक साथ अपने भीतर उपलब्ध कर लेना चाहता है।

पुरुष कलाकार, विराट् नारी, उनके बीच के आकर्षण-सम्मोहन, बन्धन आदि के इस तात्विक विश्लेषण में प्रेम की बात सोचना भी अब अनिवार्य हो उठा है। मेरे विचारमें प्रेम अपने विशुद्ध, निर्मल रूप में अन्ततः आत्म-दर्शन की ही जिज्ञासा है, जो अपने प्रथम रूप में दूसरे को जानने की तीव्र कामना या आकर्षण के रूप में उत्पन्न होती है। मोह हमारे अज्ञान का ही परिणाम है। मोह हमारे अज्ञानान्धकार का ही दूसरा नाम है। वस्तुओं या व्यक्तियों के लिये हमारे मन में मोह की बेचैनी होती है। यह इसीलिये होता है कि उन वस्तुओं या व्यक्तियों का हमें पूर्ण ज्ञान नहीं है, उनके सत्य को, उनके यथार्थ स्वरूप को, उनके भीतर के प्राण-तत्व को हम नहीं जानते। इसीलिये निकट से निकट रहकर भी हम उनसे बहुत दूर हैं; इसीलिये हममें उनके लिये प्रबल मोह है, बेचैनी है। चिर विछोह की

आग में तपकर प्रेमी अज्ञान अर्थात् मोह के सारे अन्धकारों को भेदकर, अपनी प्रिया के शाश्वत-सत्य स्वरूप का साक्षात्कार कर लेता है। फिर उसकी प्रिया सदा उसके निकट है, सदा उसकी आत्मा के आलिङ्गन में बँधी हुई है; यानी उसमें प्रतिबिम्बित हो रही है। देह और रूप की सीमाओं के पार जाकर उसने अपनी प्रिया की आत्मा के चिरन्तन् यौवन-सौन्दर्य को पा लिया है। इसीलिये अब उसे अपनी प्रिया के यौवन-सौन्दर्य के क्षय होने का भय नहीं है, न उसके खो जाने की चिन्ता है। तीन लोक और तीन काल में उसकी प्रिया का नाशवान, भौतिक शरीर कहीं भी हो, पर उसकी आत्मा में उसका अक्षय यौवन- सौन्दर्यमय सत्य-स्वरूप सम्पूर्ण प्रकाशित है। इसीलिए वह उसके लिए सदा निकट है। संयोग-वियोग के भौतिक आधारभूत भेद अब उसके लिए अर्थ नहीं रखते; वह इस सब से परे पहुँच गया है। प्रेम की इस परमोत्कृष्ट अवस्था को संसार के सारे कवियों, वेदान्तियों, सूफियों, भक्तों, और सन्तों ने एक स्वर में गाया है और स्वीकार किया है।

हाँ, तो मैं कह रहा था, मोह आत्मा का स्वभाव नहीं है, वह तो विकृति है, विभाव है। आत्मा का स्वरूप ज्ञान- मय है, मोह या अज्ञान तो अभाव है, वह सद्भाव नहीं है। मोह की तीव्रता शरीर या बाह्य रूप से तुष्ट न होकर जब उससे परे चली जाती है, और उस भीतर के प्राण या आत्मा को जानने के लिए विकल होने लगती है, तभी निर्मल-विशुद्ध, आत्म-विसर्जनशील प्रेमके यज्ञ का प्रारम्भ होता है। उसके पहले रूप और शरीर की मर्यादाओं में बँधा हुआ, रूप और शरीर की दीवारों से टकरा-टकराकर मर मिटनेवाला, मांस-मिट्टी बन जाने वाला प्रेम दुर्बल है, क्षुद्र है। मोह जब शरीर और रूप की सीमाओं से अतृप्त-विजयी होकर भीतर के आत्म-दुर्ग को भेदने के लिए व्याकुल हो उठता है, तो वही प्रेम का रूप धारण कर लेता है। प्रेम दो आत्माओंके बीच की वह

परम निर्मल, पारदर्शी, कांच की खिड़की है, जिसका कांच सूक्ष्मतम पर अभेद्य है, जिसमें से एक आत्मा दूसरी को देख सकती है, पूर्णतः पह- चान सकती है; पर उस कांच को भेदकर वे एक दूसरे में प्रवेश नहीं कर सकतीं, तब वे लौटकर अपने ही में आत्मस्थ हो जाती हैं। अज्ञान और मोह की सारी विकलता वहाँ मिट जाती है। उस प्रेम की खिड़की से उन्हें विश्वका समस्त सौन्दर्य एक साथ आलोकित, सुप्राप्त है। इसीलिए कहता हूँ कि प्रेम तपस्या का प्रतिफल है। अपने शिशु रूप में वह सन्देह की दृष्टि से देखा जा सकता है; यौवन की आग में तप कर प्रेम कुन्दन बनता है। प्रेम तपस्या है, संयम है। वह ब्रह्मचर्य यानी आत्म-रमण है। प्रेम शरीर और आत्मा का युद्ध है। यदि वासना पङ्क है तो प्रेम पङ्कज है; पङ्कज देवताओं के मस्तक पर चढ़ता है और पङ्क सडकोंमें पैरों तले रौंदा जाता है। प्रेम और वासना में यही अन्तर है।

कलाकार जो अनेक चरित्रों का निर्माण करता है, वे उसकी विविध जिज्ञासाओंके प्रतिफल है। प्रश्न हो सकता है, कलाकार स्त्री ही का चित्रण करने में विशेष रूप से क्यों संलग्न दिखाई पड़ता है? नारी सृष्टि का रहस्य है, वह सृष्टि की गांठ है; वही सारी कामना, जिज्ञासा, इच्छाकांक्षा, व्यग्रता-विकलता की ग्रन्थि है। इसलिए कलाकार नारी के भीतर के नाना प्रदेशों में, अज्ञात-अप्रकाशित प्रान्तो में विचरण करता है—उसके मूल रहस्य तत्व का उद्‌घाटन करने के लिए। नारी में अकल्पित मोहिनियों, रूपों और सौन्दर्यों का रहस्यलोक समाया है। वह बिल्लौरी कांच की तरह रङ्गीन है, जिसके रङ्गों पर दृष्टि नहीं ठहरती। कलाकार उस केन्द्रीय, धुरी की खोज में है, जहाँ से इन सारी लीलाओं का सञ्चालन हो रहा है।

कलाकार को एक विशेषाधिकार प्राप्त है। वह एक साथ अनेक जीवन बिताता है। एक साथ अनेक चरित्रों या जीवनों में अपना

निर्माण कर, अपने को बाँटकर, वह एक विशाल कर्मायोजन करता है। वह सम्पूर्ण सृष्टि को एक साथ अपने में उत्पन्न-उपलब्ध कर उसका सम्पूर्ण बोध या ज्ञान चाहता है। वह सर्वव्यापी, सर्वज्ञ होने को व्याकुल है। यह उसके आत्मदर्शन की आकुलता का परिणाम है।

एक बार मेरे एक मित्र ने मेरे काव्य के 'कुमारी-पूजन' को उपलक्ष्य बनाकर मुझसे पूछा था—तुम कुमारी-पूजा को मातृ-पूजा से अधिक महत्व क्यों देते हो? नारी की सम्पूर्णता, उसका चरम-विकास, उसके अस्तित्व की सार्थकता तो मातृत्व में है। वह तो कल्याणी, भगवती माता के रूप में ही अधिक पूजनीय, और उपादेय है। वही उसका प्रकृत कल्याणकारी रूप है। कौमार्य तो अधूरापन है, कच्ची अवस्था है। वह तो असम्पूर्णता है, आदि आदि। याद पड़ता है ऐसी ही कुछ उनकी दलील थी जिसको मैंने अपनी भाषा में दोहराने की कोशिश की है। मैंने उनके एकाङ्गी निर्णय को मान लिया। उनकी अपेक्षा वह ठीक ही था। मैंने उत्तर दिया था—मैं मातृत्व से इनकार तो नहीं कर सकता। सृष्टि की परम्परा तो रुक नहीं सकती। जब नहीं रुक सकती तो उसका सुशासन, सुव्यवस्था और पोषण अनिवार्य हो जाता है। तो मातृत्व प्रवृति स्वरूप है। वह सृष्टि-परम्परा का द्वार है। मातृत्व यदि विकृति का प्रतीक है, तो कौमार्य प्रकृति का। और काव्य में तो हम अनुभूति की गहराई तथा कल्पना की ऊँचाई के द्वारा ही सत्य की उपलब्धि करते हैं। काव्य में हम वस्तुओं के तात्विक सत्य को लेकर आगे नहीं बढ़ते, बल्कि उनके वाह्य रूप, रस, गन्ध, वर्ण, ध्वनि को अपनी सौन्दर्यानुभूति द्वारा ग्रहण कर उनमें से अपनी इष्ट वस्तुओं के लिए प्रतीक चुन लेते हैं। ये प्रतीक हमारे साधन मात्र है। इनमें हम सौन्दर्यानुभूति तथा कल्पना द्वारा अपने इष्ट या साध्य का आरोप करते हैं। इसी दृष्टिकोणसे कौमार्य मेरी सौन्दर्यानुभूति के लिए निर्मल, अलिप्त, हिमोज्वल आत्मा का प्रतीक है। हिम और अग्नि की-सी आत्मा की अस्पृश्य

निर्मलता और पवित्रता मैं कुमारियोंमें पाता हूँ। मातृत्वमें प्रेम, रूप और शरीर की सीमाओं में बँध कर नवीन आकार पाता है; वह प्रेम की सब से बड़ी हार है। पर कौमार्य का प्रेम रूप और सीमाओं को भेदकर एक तीव्रतम जिज्ञासा-पीड़ा के साथ, शाश्वासत सौन्दर्य और शाश्वासत यौवन की उत्कृष्ट वासना लेकर शरीर से आत्मा की ओर बढ़ता है। इसीलिए जो एकान्त समूहवादी हैं, प्रवृत्तिवादी हैं, जो जीवनी-शक्ति (Life force) के पुजारी हैं, वे मातृत्वके क़ायल हैं, वे मातृत्वको ही नारीका परम कल्याणकारी, इष्ट स्वरूप मानकर उसका पूजन करते हैं। पर जो आत्म-दर्शनका जिज्ञासु-मुमुक्षु है, वह मातृत्वको उत्कृष्ट साधनके रूपमें मानकर उसकी उचित आदर-पूजा करता हुआ भी कौमार्यकी उपासना ही को आत्म-दर्शनका समीचीन साधन समझता है। मेरी यह क़ैफियत मेरे काव्यके 'कुमारी-पूजन' के लिए है। इसलिये मैं इसे मातृत्व और कौमार्यका तात्विक विश्लेषण या तात्विक भेद नहीं कहता। इस भेद का आधार तो मेरी भावना-कल्पना तथा सौंदर्यानुभूति है। इसलिए मेरा निर्णय भावात्मक ही है, बौद्धिक नहीं।

कभी-कभी सोच हो आता है, जीवनमें अपने एकाकीपनको लेकर इतनी विकलता क्यों है? असलमें देखा जाय तो आत्माके बाह्य विश्वसे सम्बन्धित होने पर उसमें एक विकृति या विभाव-रूप एकाकीपन जागृत हो जाता है। आत्माके स्वाभाव स्वरूप एकाकीपनमें अनन्त तृप्ति, सुख-शांति है; पर इस विकृति या विभावरूप एकाकीपन में पीड़ा है, चाह है, कसक है, मोह-जिज्ञासा है, प्यास-उत्कण्ठा है, बेकली है। इस विभावरूप एकाकीपनकी पीड़ा जब तीव्रतम हो जाती है तो उसकी प्रतिक्रियाके फल-स्वरूप आत्माके प्रकृत, सहज सुख-शांतिपूर्ण एकाकीपनकी उपलब्धि होती है। प्रेम करके भी जब आत्माका यह विभावरूप एकाकीपन तृप्त नहीं होता, तब अन्ततः हम अपने में बंद हो जाते हैं, आत्मस्थ हो जाते हैं। तब वह हमारी एकाकीपनकी पीड़ा ज्यों की त्यों मचलती रह जाती है, और इसीकी

विकलतामें तपकर हमें आत्मा के स्वभाव-स्वरूप, चिरन्तन एकाकीपन की अनुभूति प्राप्त होती है। इसीलिए प्रेम आत्माके एकाकी स्वभावकी उपलब्धिके लिए उत्कृष्टतम साधन है।

कवि या कलाकार मूर्तमें होकर अमूर्त को—रूपमें होकर अरूपको पाना चाहता है। वह सरूप, मूर्त को प्यार करता है, वह यौवन और सौंदर्यकी अमरताके गीत गाने लगता है; अनुभूतिकी गहरी तल्लीनतामें, एकाम्यानुभव की तन्मयता में, वस्तु-तत्व को भेद कर वह अमर प्राण-तत्व का स्पर्श पाता है और आह्लाद-आनन्द से बेमुध होकर गा उठता है, 'A thing of beauty is a joy for ever'। वस्तुके सत्वको प्राप्त करके ही कवि यह महान सत्य लिख सका है। पर जब वह भौतिक यौवन-सौंदर्यको क्षणस्थायी, नाशवान, परिवर्तनशील अनुभव कर रो उठता है तो उसके प्राणोंमें अमर यौवन-सौंदर्यके लिए विकल पुकार उठती है। तब कवि या कलाकार अपनी रचनाओंमें शरीरसे आत्माकी ओर बढ़ता है; मूर्तसे अमूर्त की ओर बढ़ता है।

कला तो आत्म-दर्शन की साधना है। इसलिए वह सदा आत्म-लक्ष्यी ही रहेगी। समूहवादी या समाजवादी होकर कला अपनी सचाई और ईमानदारी खो बैठेगी—यों कहें, तब वह उसी स्तर पर आ जायेगी, जहाँ राजनीति है या अर्थ-शास्त्र है। राजनीति या अर्थ-शास्त्र इस अपेक्षासे कहता हूं कि समूह-मूलक होकर कला इस विराट विश्व-यंत्रके पुर्ज़ोंमें ही उलझी रहेगी। उन पुर्ज़ोंकी केन्द्रीय-संचालक शक्ति—उस महाप्राण को वह न पा सकेगी जो स्वयम् सत्य है, जो सारी समस्याओं का एक और अन्तिम समाधान है। जो लोग जीवनके अन्तरदेश अर्थात् आत्मामें गहरे उतरे बिना ही जीवन को सतह पर की पेचीदगियोंमें उलझ कर ही, व्यक्ति और आत्माका इन्कार करके, समूहको ही सत्य मानकर, कृत्रिम समाज-वादके द्वारा विश्व-कल्याण का सपना देख रहे हैं, उनके मशीनके पुर्जोंमें उलझे

रहनेवाले सारे सिद्धान्त चिरकालके आध्यात्मद्रष्टा भारतकी दृष्टि में बच्चोंके खिलवाड़ जैसे ही अवास्तविक, अर्थहीन और हास्यास्पद है। नवीन इंग्लैण्ड के एक आत्म-चेता उपन्यासकार चार्ल्स् मॉरगन ने अपने Fountain नामक उपन्यासमें एक स्थल पर अपने एक पात्र नॉरविट्रूसे कहलवाया है:

"The world has become so poor that its ancient treasures of the spirit are necessary to it. It has formed a habit of thinking in groups, classes, masses; and civilization is breaking down under the burden of that error. It is an error because masses are contrary to nature; they are not born, they do not die, they have no immortality; the poetry of human experience does not apply to them. Birth and death are solitary; thougut and growth are solitary; every final reality of man's life is his alone, incommunicable; as soon as he ceases to be alone, he moves away from realities"

"आज दुनिया इतनी कंगाल हो गई है कि उसे अपना प्राचीन आध्यात्मिक वैभव का कोष आवश्यक हो पड़ा है। गिरोहों, वर्गों और जनता के मानों में सोचने की हमें एक आदत-सी पड़ गई है; और इस भूल के भार से सभ्यता छिन्न-विच्छिन्न हो रही है। यह भूल इसलिए है कि जनता की सत्ताकी कल्पना ही प्रकृति के विरुद्ध है; जनता न तो जन्म ही लेती है, न वह मरती है, और न वह अमर ही होती है; मानवीय अनुभूति का काव्य उसके साथ सङ्गत नहीं होता। जन्म और मरण एकाकी हैं; विचार और प्रगति एकाकी हैं, मनुष्य के जीवन का प्रत्येक चरम सत्य उसका अपना और एकाकी है—वह अप्रेषणीय है। मनुष्य का एकाकी रूप जहां अवसान पा जाता है, वहीं वह सत्य से परे हट जाता है।"

यह है भयङ्कर जड़वादिता के बुखार से बेचैन पाश्चात्य मस्तिष्क पर आध्यात्मवाद की प्रतिक्रिया का प्रतिफल। यह है यूरप के विचार-पैग़म्बरों के

मस्तिष्क में गूँजनेवाली आनेवाले युग की नवीनतम विचार-वाणी। आज जब भारत के तरुण हृदयों में, विचारहीन, घातक समूहवादी आन्दोलन की चिनगारियाँ फूट रही हैं, तब पश्चिम के गम्भीर विचार-क्षितिज पर, इस नवजागरण के प्रभात में, आत्मवाद का सूर्योदय हो रहा है। अपनी युगों की सञ्चित, मूल आध्यात्मिक सम्पत्ति को भूलकर आज हम पश्चिमीय विचार-धाराओं के क़ायल हो रहे हैं। हमारी राजनैतिक और आर्थिक गुलामी से भी हमारी यह आत्मा की गुलामी अधिक भयङ्कर, लज्जाजनक और घृणास्पद है।

तो अपनी मूल बात पर आकर यह कहना चाहता हूँ कि राजनीति और अर्थशास्त्र सामयिक रोगों के तात्कालिक नुस्खे तज़वीज़ करते हैं, इससे अधिक उपयोगिता इनकी नहीं। इनके द्वारा की जानेवाली मानव-जीवन के रोगों की तशखीश भी ख़तरे से भरी है, वह अधिक विश्वसनीय नहीं कही जा सकती। मेरा तो ख़्याल है कि राजनीति और अर्थशास्त्र ने हमारी जीवन-समस्याओं को सुलझानेके बजाय उलझाया ही ज़्यादा है। आज के भयङ्कर राजनैतिक और अर्थ-संघर्ष के युग में माना कि ये हमारे लिए अत्यन्त प्रबल और अनिवार्य साधन हो सकते हैं; मगर बिल्कुल निरापद और निस्सन्देह होकर पूरे विश्वास के साथ इनके द्वारा प्रस्तुत योजनाओं से ही मानवता के चरम कल्याण का सपना देखने की भयङ्कर भूल हमसे न होनी चाहिए।

अनुभूति ही कला की सच्ची जननी है। वही हमारी चेतना की सच्ची और कोमलतम प्रतिनिधि है। बुद्धि के द्वारा निर्देशित होकर वह कला में अभिव्यक्ति पाती है। इसके पहले कि कलाकार, बाह्यजगत की नाना हलचलों, चेष्टाओं, क्रियाओं, प्रतिक्रियाओं और प्रक्रियाओं का विहगावलोकन कर उनका बौद्धिक विश्लेषण करे, उसके लिए यह आवश्यक है कि वह अपनेको विश्वका केन्द्र बना कर बाहर की सारी क्रिया-चेष्टाओंसे अपने को सम्बन्धित, सङ्घर्षित अनुभव करे। वह विश्वके द्वन्द्वोंमें अपने द्वन्द्व खोजकर अपनी वेदना को प्रज्वलित रख कर उसमेंसे विश्वानुभूति पाए। अपनी आत्माकी पुकारको

अनसुनी कर, अपनी आत्मवेदनाको दबाकर, अपने आत्मसङ्घर्षोंकी अवहेलना करके जो आदर्शवादिताके निराधार शून्यमें खड़े होकर जगतके कल्याणकी डींग हाकते हैं, वे अपने को धोखा देनेके साथ दुनियाको भी धोखा देते हैं। प्रबल कीर्ति-लिप्सा और नेतृत्व-लालसा, स्वामित्व-भोग की चाह और अपने अहङ्कार की तृप्ति जैसी हलकी वृत्तियां ही उनकी बड़ी-बड़ी स्पीचों और लेखों की प्रेरक शक्तियां होती हैं। कलाकारको ऐसे किसी नेतृत्व की चाह नहीं होती। सार्वजनिक जीवन बिताने के दाम्भिक व्यवसाय के लिये उसे लम्बी-चौड़ी तैयारियां नहीं करनी पड़तीं। कलाकारका जीवन आत्ममन्थन, आत्म-चिन्तन, आत्मालोचन, आत्मविश्लेषण और आत्माभिव्यक्तिका एकान्त साधनामय जीवन है। वह अपने को संसारमें डुबाता है, संसारको अपनेमें डुबो लेनेके लिए; वह आत्मदान करता है, आत्मोपलब्धिके लिए।

तो अनुभूति व्यक्ति ही की होती है--समूह की नहीं। इसलिए कलामें व्यक्ति ही अभिव्यक्ति पाता है, समूह नहीं। व्यक्ति जब विश्व-सङ्घर्ष में अपना स्थान खोजता है, तो उसे वह अपना लेता है। अतः उसकी अनुभूति विराट हो उठती है। तभी वह विश्व-वेदनाका प्रतिनिधित्व करनेवाला लेखक, कवि या कलाकार स्वीकार कर लिया जाता है। पर हम यह न भूल जाएँ कि हमारे सारे द्वन्द्व, सारे सङ्घर्ष, सारे आन्दोलन, सारी क्रान्तियाँ, सारे बलिदान अपने को लेकर हैं, अपनी अपेक्षा हैं, अपने को केन्द्र बनाकर है। अपने को भूलकर—व्यक्ति को भूलकर, सारी विश्व वेदना झूठी है, सारे विश्व-कल्याण के सपने विफल है; अपने को भूलकर हम जगत की उपलब्धि अपनेमें न कर सकेंगे। अपनी सच्ची हस्ती मिटाकर हम जगत के सच्चे नेता, सच्चे विधाता, शान्ति के सच्चे सन्देश-वाहक, पैग़म्बर या ज्योतिर्धर न हो सकेंगे। इसलिए कलाकार के निष्कर्ष सीधे विश्व सङ्घर्ष के निष्कर्ष न होकर वे उसके आत्म-मन्थन के, उसके आत्म-सङ्घर्ष के निष्कर्ष

है। इसीलिए वे स्वयम् सिद्ध है और सबके अपने है—उनमे सामयिकता, क्षणिकता, राष्ट्रीयता, एकदेशीयता या परायापन नहीं हैं। वे सब युगों और सब देशों की मानवता की सम्पत्ति है। वे चिरन्तन, शाश्वत, चिर सुन्दर हैं।

प्रकाश की खोज में

व्यक्त ज्ञानकी सीमा : १

कल दिनभर कुछ बौद्धिक मित्रोंके बीच काफ़ी उत्तेजित विचार-सङ्घर्ष होता रहा। रात भर चित्त अस्थिर, अशांत था। सत्यका सुनिश्चित छोर पानेके लिये आकुल मैं, अनेक विरोधी विचार-धाराओं के वात्याचक्र में भटकता रहा। ज़माने की हवाओं से आन्दोलित निरे बुद्धिवादी मित्रों ने अपने करारे तर्कोंसे मेरी श्रद्धा के आधारको चोट पहुँचाकर उसमें भूकम्पसा ला दिया था। सो मैं अपने आयतन से भटककर निराधार शून्यमें छोर पानेके लिये उड़ा फिर रहा था। मेरी इस वेदना में होकर आज सवेरेसे मनमें प्रश्न उठ रहा है—क्या ज्ञान आत्मघातक है? क्या वह आत्मा के शान्ति-धर्म का ह्रास करता है? क्या ज्ञान आत्माको अँधेरेमें भरमाता, भटकाता या चक्कर देता है?

मैंने अपने ही अन्दर जवाब भी पाया है—'नहीं, वह ज्ञान सच्चा या सम्पूर्ण ज्ञान नहीं जो आत्मघातक या भ्रामक है। वह ज्ञानकी सीमितता और

अपूर्णता है, जो चोट पहुँचाती, दुःख पहुँचाती और भ्रमित करती है। व्यक्ति की दैहिक सीमासे बौद्धिक और मानसिक सीमाएँ पैदा होती हैं और इस सीमित बुद्धि और मनसे सीमित अपूर्ण ज्ञान निष्पन्न होता है। अपने इस सीमित अपूर्ण ज्ञान में जब हम आग्रह-पूर्वक ममत्व स्थापित करते हैं, तब वह मोहावृत्त होता है—उसकी गति ह्रस्व होती जाती है, वह अहङ्कार से ग्रसित होता जाता है। अन्ततः वह ज्ञान अपनी प्रगति-शक्ति (Dynamic Force) खोकर अक्रिय—स्थिर हो जाता है, और उसीके परिणाम स्वरूप ज्ञानको लेकर व्यक्तिगत दुराग्रह पैदा होता है। दुराग्रहसे ज्ञान-धारणाओंमें परस्पर विरोध उत्पन्न होता है और हम शान्ति-लाभ करनेके बजाय बहुत सी अशान्ति और हिंसासे चित्तको क्षुब्ध कर लेते हैं।

फिलॉसफर की उलझन और बेचैनी, निर्दिष्ट, सीमित ज्ञानवाली दर्शन-शास्त्रकी किताबोंके निरन्तर पठन, मनन-चिन्तनसे ही पैदा होती है। असलमें देखा जाय तो किताब स्वयम् एक सीमा है। किताबमें हम ज्ञानको सीमाबद्ध करते हैं—क़ैद करते हैं। ऐसा मालूम होता कि जैसे किताब लिखकर हम ज्ञानके अगाध-असीम सागर को एक हौज़में बन्द करनेकी कोशिश करते हैं। इसलिए अपेक्षा विशेषसे यह कहा जा सकता है कि किताबमें ज्ञान की एकदेशीय अथवा विशिष्ट-देशीय धारणाके स्थायीकरणसे जगत का सर्वांश में कल्याण न होकर आंशिक रूपसे अकल्याण भी हुआ होगा। आजके युगमें जब किताब हमारे लिए ज्ञान का अपरिहार्य साधन है, तब ऊपरके वक्तव्यसे किताबके बारेमें कुछ ग़लतफ़हमी होने की सम्भावना है। ऊपरके कथनसे यह न समझ लेना होगा कि उसमें किताबका सर्वथा विरोध है। ज्ञानके विकासमें एक ऐसी मंज़िल तो अनिवार्य रूपसे आती ही है जब मुमुक्षु व्यक्तिको ज्ञान पर किताब की क़ैद असह्य हो जाती है। तब ज्ञान किताब की सीमासे मुक्त होकर अनन्त, असीम की ओर बढ़ता है। ऐसी स्थितिमें वह एक सीमित भाषा और भौतिक आयतन-आधारका क़ायल

नहीं रह जाता। किताबके लिखे जानेका सबसे बड़ा खतरा यह है कि किताब लिख कर आदमी अपने विशिष्ट भाषा-परिभाषा-बद्ध ज्ञानके प्रति आग्रही हो जाता है—अर्थात् अपने ही ज्ञानके प्रति वह आवश्यकतासे अधिक विश्वस्त हो जाता है; अपने ज्ञानके प्रति उसमें ममत्व-मोह, अधिकारकी भावना उत्पन्न हो जाती है। तब दुराग्रह, मिथ्यात्व और अज्ञान का प्रादुर्भाव होता है। परिणाम यह होता है कि मनुष्य ज्ञानके साध्य, आत्मैक्यके मार्गसे च्युत होकर अनेकताओंमें भटकता रहता है; चारों ओर विरोध-विषमता और मत-सङ्घर्षोंकी वृद्धि होती दिखाई देती है। आजका बुद्धिवाद किताबके द्वारा ज्ञान के इसी एकांगीकरण और परिभाषीकरण का परिणाम है। इसीलिए आज हम सत्य के पथ से च्युत होकर मत-वादों के इस संघर्ष में निरे संदेही, अविश्वासी और श्रद्धाहीन हो गए हैं।

संसारके परम ज्ञानियों और ज्योतिर्धरोंने शायद इसीलिए ज्ञानको लिखने का खतरा नहीं उठाया। चूँकि उन्होंने ज्ञानके निःसीम सागरमें अवगाहन कर लिया था और ज्ञान की सचाई की शर्त चिरंतन गतिशीलताको पा लिया था, इसीलिए उन्होंने एक निश्चित, विशिष्ट मानवीय भाषाको काल-गत और देश-गत सीमा से सीमित-संकीर्ण समझकर, अनन्त, अशेष ज्ञान की अभिव्यक्ति के लिए भाषा के अक्षर-बद्ध बन्धन को स्वीकार न किया। पूर्ण ज्ञानियों के निकट ज्ञान व्यक्तिगत अधिकार या स्वामित्व की वस्तु नहीं रहती। चूँकि उनका ज्ञान व्यक्ति की सीमा त्यागकर, निखिल चराचर विश्व को अपने भीतर आत्मसात कर लेता है—इसलिए वह तो स्वभावतः समस्त विश्व की सम्पत्ति हो जाता है। उस परम दशामें जब उन्हें शरीरकी सीमासे सीमित-विभाजित सत्ता के अस्तित्व में ही मोह नहीं रह जाता, तब ज्ञान के साथ अपना नाम जोड़कर उसे अभिव्यक्त करने का आग्रह क्योंकर सम्भव हो सकता है? उनके द्वारा उपलब्ध ज्ञान प्राणिमात्र के लिए हवा, जल और धूप की तरह निसर्ग, निर्बाध रूपसे सुलभ हो जाता है।

किताब लिखकर उसपर अपने नाम की मुहर के साथ हम जो ज्ञान-दान करते हैं, वह जगत के कल्याण के हेतु निस्पृह ज्ञान-दान नहीं है। उसमें हमारा अभीष्ट मूलतः अपने अहं की तुष्टि और अपनी व्यक्तिगत ज्ञान-धारणा को प्रस्थापित करने की तीव्र मोह-लिप्सा और कीर्ति-लिप्सा की तृप्ति है। मूल धर्म-ग्रन्थों पर जो विशिष्ट रचयिता का नाम प्रायः नहीं रहता और उन्हें जो ईश्वरकृत कहकर स्वीकार किया जाता है, उसके पीछे ज्ञान को व्यक्तिगत-सीमातीत विश्व-सम्पत्ति बनानेकी ही यह उदात्त प्रवृत्ति काम करती दिखाई देती है। ईसाइयोंका मूल धर्म-ग्रन्थ बाइबल और मुसलमानों का कुरान पैग़म्बरों द्वारा उद्घोषित प्रभु की वाणी माने जाते हैं। इसी तरह हिन्दुओंके वेद 'अपौरुषेय' यानी ईश्वर-कृत माने जाते हैं, बौद्धोंके त्रिपिटक बुद्ध-वाणी कह कर स्वीकार किए जाते हैं, और वैसे ही जैनियों की धारणा है कि उनके 'ग्यारह अंग' और 'चौदह पूर्व' तीर्थंकर की 'दिव्य-ध्वनि' में ध्वनित होकर गणधरों द्वारा झेले गए थे और पीछे से आचार्यों द्वारा ग्रंथबद्ध हुए। इस तरह हम देखते हैं कि धर्म-ग्रंथोंमें रक्षित ज्ञान-सम्पत्ति अपने मौलिक रूप में समस्त विश्व के कल्याण के लिये अवतरित हुई थी और उसे वैयक्तिक सीमा और विशिष्ट अधिकार के बंधनों से मुक्त, सर्व-सुलभ रूप में दान किया गया था। पर मनुष्य के ज्ञान-दम्भ ने पीछे से उसमें स्वामित्व और अधिकार का आरोप किया, धर्मों ने संस्थाओं का रूप लेकर अपनी वैयक्तिक सत्ता की स्थापना की। परिणाम यह हुआ कि धर्मों का निर्मल ज्ञान व्यक्तियों के दुराग्रहों और अधिकार-लिप्साओं से ग्रसित होकर संकीर्ण एवं सीमित हो गया। मोह से दूषित होकर उसमें विरोध पैदा हुआ, रगड़ पैदा हुई, ज्ञानका व्यभिचरण हुआ और धर्म-मंदिरों की वेदियां मनुष्य के खून की प्यासी हो उठीं।

विषयान्तर से अपने को बचा कर हम अपना ही विचार-सूत्र पकड़ लें। ज्ञानको सीमा से बचाने और उसकी प्रगतिशीलता और असीमता की

रक्षा के लिए ज्ञानकी अभिव्यक्ति के सूक्ष्मतम भौतिक माध्यम अङ्गीकार करने की बड़ी ही सुन्दर धारणाएं भी धर्मों में पाई जाती हैं। जैसे वैदिक धर्म में यह मान्यता है कि प्रथमतः ज्ञान की अभिव्यक्ति शब्दहीन अनहद घोष में हुई थी। इसी तरह जैनियों की मान्यता है कि तीर्थंकर की 'दिव्य-ध्वनि' अक्षर-भाषाविहीन, मात्र सर्वश्रुत आत्मघोष होता है। प्राणिमात्र के लिए ज्ञान की ग्राहक-साधन इन्द्रियां हैं और इन्द्रियगम्य यदि वह ज्ञान न हो तो जगत का उससे कोई कल्याण नहीं। इसीलिए एक सूक्ष्मतम, अनिवार्य सीमा अर्थात् ध्वनि की सीमाको ज्ञानकी अभिव्यक्तिके लिए स्वीकार करना पड़ा। जिन साक्षर गणधरोंने उस ज्ञानको झेला उन्होंने उसे वाणी में व्यक्त किया। चूंकि ज्ञान स्वभावसेही असीम और निःशेष है और उसकी शेष-पर्यन्त पूर्ण अभिव्यक्ति सम्भव ही न थी, अतएव ज्ञानार्जनको सुसाध्य बनाने के लिए और सत्य-मिथ्याके निर्णयके लिए एक माप-दण्ड अथवा तुलाकी आवश्यकता प्रतीत हुई। ज्ञानके इसी सुनिर्दिष्ट, सूत्र-बद्ध, निर्णायक नियम-विधानको मानवीय भाषामें नाम दिया गया न्याय-शास्त्र (Science of Logic)। इस तरह जब ज्ञानकी प्रामाणिकताके लिए एक कसौटी क़ायम हो गई तो ज्ञानका विकीरण और व्यक्तीकरण सहज-साध्य हो गया, अर्थात् ज्ञान व्यक्तिको सुलभ हो सका। चूंकि न्याय-शास्त्र ज्ञानकी निर्धारक तुला अथवा मापदण्ड है, इसलिए वह देशगत-भिन्नता अथवा कालगत परिवर्त्तनशीलतासे परे है। न्याय निसर्ग है—वह गणितकी भाँति ही सार्वकालिक और सार्व-देशीय, शुद्ध विज्ञान है। वस्तुओंके देश-काल-जनित बाह्य मूल्योंके भेदोंको मिटाकर उनके चिरन्तन्, मौलिक मूल्योंकी अपेक्षा उनका ऐक्य साधन करना ही न्यायका इष्ट ध्येय है। ज्ञानका अन्तिम साध्य है अनेकसे एककी ओर ले जाना, और उस अखण्ड एकमें निखिल चराचर विश्वकी सम्पूर्ण विविधताओं और अनेकताओंका एक साथ एक ही समयमें दर्शन करा देना। सार्वभौमिक और सार्वकालिक होनेके लिए न्यायका

निष्पक्ष होना भी अनिवार्य था। न्यायका शाब्दिक अर्थ ही है निष्पक्षता और निष्पक्ष होनेके लिए न्यायका सापेक्ष होना भी उतनाही अनिवार्य था; क्योंकि सत्य अपनी स्थितिमें सम्पूर्ण है परन्तु अभिव्यक्तिमें वह अन्तिम नहीं है; अर्थात् अभिव्यक्तिमें वह सदा ही सापेक्ष है। इसी सापेक्षताके तत्वकी बुनियादपर सत्यके निर्णायक, संसारके दो सर्वमान्य सिद्धांतों की अवतारणा हुई। वैज्ञानिक युगमें आइन्स्टीनने इसे सापेक्ष-वाद (Theory of Relativity) के नामसे दुनियाको भेंट किया और उससे भी कई हज़ार वर्ष पूर्व एक विशिष्ट प्राचीन, प्राच्य दशन (जैन दर्शन) में वह 'अनेकांत-दर्शन' के नामसे सर्वप्रथम अवतरित हुआ था।

ज्ञानकी जहाँ भी भाषामें अभिव्यक्ति हुई है, वहाँ ज्ञानको सुनिश्चित परिभाषाके गिने हुए शब्दोंमें बाँधकर रखा गया है और वहीं विभिन्न ज्ञान-धारणाओंका जन्म हुआ है। और जहाँ यह भिन्नता पैदा हुई वहीं विरोध अनिवार्य हो गया है। दुनियामें अनेक मत-वादोंने जो जन्म लिया, वह ज्ञानके इसी परिभाषीकरण और स्थितिकरणका परिणाम है और इसी कारण आए दिन जगतमें हम इतना विचार-संघर्ष देखते हैं। चूँकि हमें अपने ज्ञानके प्रति मोह है, ज्ञानके स्वामित्व-भोगकी लालसा है, इसलिए हम अपनी सीमित ज्ञान-धारणाओंके सम्प्रदाय, सिद्धान्त और वाद प्रस्थापित करके, उनके प्रणेता या मास्टर बनना चाहते हैं; यों कहिए कि अपनी हस्ती क़ायम करना चाहते हैं। इस तरह ज्ञानकी साधनामें व्यक्तिगत अहं-भोग और कीर्ति-लिप्सा जैसी हीन, संकीर्ण और अनुदात्त वृत्तियोंके आ जानेसे ज्ञानका भयङ्कर व्यभिचरण हुआ है।

इन सारे खतरों और सम्भावनाओंको मद्दे-नज़र रखते हुए कहा जा सकता है कि जहांतक विचारोंकी बौद्धिक अभिव्यक्ति है, संघर्ष अवश्यंभावी है, अनिवार्य है। बौद्धिक अभिव्यक्ति द्वारा विचारोंमें संघर्ष मिटानेका प्रयत्न तो व्यर्थ ही जान पड़ता है। संघर्ष

विचारोंमें नहीं, आत्माओंमें मिटाया जा सकता है और वह मिटाया जा सकता है आत्माके निसर्ग धर्म प्रेम से। विचार एक सीमित, ऐन्द्रिक, बुद्धि-जन्य वस्तु है; इसलिए वह अपनी सीमापर आकर जब अप्रगतिशील हो जाता है, तब कहीं न कहीं जाकर वह अवश्य विरोध उत्पन्न करता है। परन्तु प्रेम असीम आत्माका स्वभाव होनेके नाते समूचे विश्वको अपने भीतर आत्मसात् करनेकी क्षमता रखता है। इसलिए वह सारे संघर्षोंको निर्विरोध रूपसे निःशेष करते हुए अखण्ड ऐक्यकी उपलब्धि करनेकी सामर्थ्य रखता है। संतोंका मार्ग दार्शनिकोंसे इसी बिन्दुपर भिन्न हो जाता है—जहाँ वे बौद्धिक चिन्तनका संघर्षापन्न मार्ग छोड़कर, आत्माकी चिर चैतन्य-ज्योति प्रेम-धर्मके द्वारा विश्वके अणु-अणुको जीवनके क्षण-क्षणमें अपने निकट सहज प्रकाशित पाने लगते हैं।

शरीरकी सीमाओं वाले मिथ्या व्यक्तित्वके मोह-बन्धनोंको तोड़कर ही हम आत्माओंके संघर्ष मिटा सकते हैं। हमारा बौद्धिक व्यक्तित्व भी शरीरसे सीमित मिथ्या व्यक्तित्व है। इसीलिए तो हम अपने ज्ञानके दम्भ और अहंकारसे इतने अधिक पीड़ित रहते हैं, कि हमारे ज्ञानके किंचिन्मात्र खण्डनसे ही हममें क्रोध, विरोध और अशान्ति जाग उठती है; हम असहिष्णु और अधीर हो उठते हैं। विरोध, संघर्ष, वैर, विपरीतता आदि आत्माके स्वभाव नहीं हैं; ये तो विभाव हैं, अभाव-जनित विकार हैं; यह चेतनपर जड़की विजय है। हमारे सारे जीवन-संघर्ष और इसीलिए ज्ञान-संघर्षका कारण यही जड़तत्व है। जड़ और चेतनकी क्रिया-प्रतिक्रिया-जनित प्रक्रियाका नाम ही जीवन है। चेतन जड़में क़ैद होकर अपना स्वभाव भूल जाता है, परिणामतः जड़ उसपर हावी हो जाता है। अपने क़ाबूमें आए हुए चेतनकी शक्तिका उपयोग करके जड़ तत्व आकर्षित-विकर्षित, संघर्षित-संवर्धित होता है और इस तरह सृष्टिकी महा-व्यापार-प्रक्रियामें चेतन जड़का दास बना रहता है।

समन्वय की ओर : २

तो जन्मसे ही हम एक मिथ्या स्वार्थी अस्तित्व धारण करते हैं और आगे बढ़ते हुए जीवनके साथ हमारी स्वार्थिनी मिथ्या मर्यादाएँ बढ़ती चली जाती हैं। जो सबका है—केवल हमारा ही नहीं है, उसपर अपना अधिकार स्थिर कर हम कहने लगते हैं—'यह मेरा है,' 'वह मेरा है'। इस प्रकार हमारी इच्छाओंसे सम्बद्ध विभिन्न पदार्थोंके प्रति हमारा विशिष्ट राग उत्पन्न होता है और यह विशिष्ट राग हमारी आत्माके स्वभाव पूर्णरागता अथवा वीतरागताके मार्गमें बाधक सीमाएँ और दीवारें खड़ी करता है; यों कहें हमारी आत्माके अखंड प्रेमको खंडित करता है। और इसी विशिष्ट रागका नाम है—मोह। विशिष्ट वस्तुओं और व्यक्तियोंके प्रति जो हमारा स्वार्थपूर्ण आग्रह और लगाव है, वह मोह है। मोहके इन्हीं छोटे-मोटे अनेक वृत्तोंको तोड़ते हुए हमें प्रेमकी उपलब्धि करनी है, जो कि पूर्णराग है इसी लिए वीतराग है, अर्थात् विशिष्ट रागसे बाधित नहीं है।

अन्ततः वीतराग और सरागमें कोई मौलिक भेद नहीं रह जाता। वीतरागता और सरागताका भेद केवल तात्कालिक स्पष्टीकरणके लिए है। वीतराग और सराग दो तार्किकोंकी एक ही अर्थको विभिन्न व्यंजाके लिए निर्धारित शब्द हैं। एक निषेधात्मक अर्थमें (Negatively) वस्तुको पाना चाहता है तो दूसरा विधायक अर्थमें (Positive terms) पूर्ण प्रेमको परिभाषित करना चाहता है; वह उसे पूर्ण सरागता कहता है। और जो निषेधात्मक अर्थमें प्रेमकी परिभाषा करना चाहता है वह उसे वीतरागता कहता है। तो यहाँ वीतराग और सरागके बीच हमें जो एक शब्द-ध्वनिसे भासित बाह्य विरोध दिखलाई पड़ता है—वह मिथ्या विरोध है। कोई वास्तविक या बुनियादी भेद वह नहीं है। संसारमें प्रचलित जुदा-जुदा दर्शनों

और विचार-सरणिओंमें दिखाई पड़नेवाला विरोध वास्तवमें बाह्य और मिथ्या विरोध है। वह पारिभाषिक एवं शाब्दिक विरोध है; वह भाषाकी अपूर्णताके कारण है और भाषाकी अपूर्णता अथवा सीमितता हमारी भौतिक व्यक्ति-मर्यादाओं (Individuation) का सीधा परिणाम है। तो जहाँ तक भाषा-परिभाषा और बौद्धिक अभिव्यक्ति है, वहाँ तक ये मिथ्या भेद सर्वथा नहीं मिटाए जा सकते। हमारी अभिव्यक्ति सदा ही सीमित, मर्यादित, इसलिए सापेक्ष होगी। इसीलिए तो कह सकते हैं कि प्रेमकी भाषा मौन है—और मौन है इसीलिए असीम है, अनन्त है। हम निरन्तर ध्यान, आत्मचिन्तन् और एकासन समाधि द्वारा अपने भीतरके उसी अनाहत, निसर्ग-मौनकी उपलब्धि करना चाहते हैं—जिस मौनमें हम समस्त विश्वात्माके, चिरन्तन-शाश्वत्, त्रिलोक और त्रिकालवर्त्ती प्रेमकी उपलब्धि एक निमिषमें कर सकें। उस अनन्त मौनमें भाषाकी मर्यादा, छल, आवरण, विभिन्नता, विरोध और व्यक्ति-सीमा नहीं है। इसीलिए उस परम मौनकी अवस्था में, हम निखिल चराचर जगत्को अपने ही अन्दर आत्मसात् कर अथवा उसमें अवगाहन कर उससे प्रेम करने लगते हैं। इसी अवस्थाके स्थायित्व-लाभको मुक्ति अथवा परब्रह्म-स्वरूप हो जाना कहते हैं। यह अवस्था अशरीरी होती है। चूँकि इस अवस्थामें शरीरकी मर्यादाएँ नहीं रहतीं, इसीलिए आत्मा सर्वव्यापी, अनन्त हो जाती है—जन्म-मरणके चक्रसे परे चली जाती है।

इस अवस्थाकी अभिव्यक्ति भी विभिन्न दर्शनों और धर्मोंमें विभिन्न शब्दोंमें हुई है। पर भाषामें अभिव्यंजनाके दो ही मूल तरीक़े देखनेमें आते हैं—वही विधायक शब्द-योजना और निषेधात्मक शब्द-योजना; अथवा स्वात्मक दृष्टिकोण (Subjective Attitude)तथा परात्मक दृष्टिकोण (Objective Attitude).

एकान्त निषेधात्मक तथा परात्मक दृष्टिकोणवाला एक दार्शनिक है जो कहेगा—मुक्तिमें आत्मा निर्मल ज्ञान-द्रव्य रह जाती है, समूचे विश्वसे

ऊपर उठकर विश्वके और अपने बीचका चरम भेद पा लेती है। पर तभी वह यह भी तो कहेगा कि सिद्धात्मामें तीनों लोक और तीनों काल क्षण-क्षण प्रतिबिम्बित हैं, उपलब्ध हैं, इसीलिए वहां जगतसे राग नहीं है, बेचैनी नहीं है। तब जगत अभिव्यक्तिमें परात्मक रहकर भी उपलब्धिमें परात्मक कहां रह जाता है ? जब निर्विकल्प अवस्थामें ज्ञान, ज्ञाता और ज्ञेयका भेद मिट गया—तब ज्ञाता (आत्मा) और ज्ञेय (जगत) में कौनसा भेद शेष रह गया ? जब भेद नहीं रहा तो जगतमें परात्मकता कहां रह गई ? ऐसी अवस्थामें जो जगत है वही मैं हूँ, मुझमें ही जगत है। मैं सर्वव्यापी हूँ, सर्वज्ञ हूँ, अखण्ड-ब्रह्म हूँ, और इस अर्थमें जगतका कर्त्ता, धर्त्ता, हरता भी हूँ। क्योंकि सारी सृष्टिका सृजन-विनाश मुझीमें चल रहा है, इसलिए मैं पूर्ण प्रेमी हूँ, पूर्ण सराग हूँ। पर मैं जगतकी क्रियामें संलग्न नहीं होता, मैं विशिष्टके प्रेम तक ही सीमित नहीं हूँ, इसीलिए मैं पूर्ण वीतराग हूँ। इस तरह हमने एकान्त परात्मक तथा निषेधात्मक दृष्टिकोणवाले दार्शनिकके वक्तव्यमें भी स्वात्मक और विधायक अर्थ खोजकर दोनोंके शाब्दिक अथवा पारिभाषिक अन्तरको व्यर्थ कर दिया।

इसी प्रकार जो एकान्त स्वात्मक तथा विधायक दृष्टिकोण वाला दार्शनिक होगा वह मुक्तिकी परिभाषा करते हुए कहेगा—मेरी मुक्ति विश्वके और मेरे बीचका अन्तर पाना नहीं है, बल्कि वह अन्तर मिटा देना है। मैं समस्तमें अवगाहन करता हूँ, उसमें डूब जाता हूँ, खो जाता हूँ, जगतके साथ एकाकार हो जाता हूँ। मुझसे बाहर और भिन्न जगत कुछ भी नहीं है। मैं हूँ—जगत नहीं है; अथवा जगत है—मैं नहीं हूँ—'एको ब्रह्म द्वितियो नास्ति'। तब परात्मक दृष्टिकोणवाला कहता है—"अपनी मुक्तिमें मैं जगत में अवगाहन नहीं करता—उससे ऊपर उठता हूँ। जगत मुझसे भिन्न है—उसकी स्थिति मुझसे बाहर है। मैं उसमें डूब नहीं जाता, उससे तैरकर ऊपर उठता हूँ। पर तभी वह यह भी तो कहता है कि सिद्धावस्थामें तीनों लोक और तीनों

काल मुझमें क्षण-क्षण प्रतिबिम्बित हैं—जगत एक निमिषको भी तो मेरी आत्माके दर्पण, मेरे ज्ञानसे ओझल नहीं। तब तो हम सहज ही यह सिद्ध कर सकते हैं कि यदि समस्त जगत मुझमें प्रतिबिम्बित है अर्थात् डूबा हुआ है तो मैं भी समस्त जगतके अणु-अणुमें क्षण-क्षण प्रकाशित हूँ, अर्थात् डूबा हुआ हूँ। तब जगतमें और मुझमें भिन्नता कहाँ रह गयी ? दर्पणमें देख रहा हूँ, अर्थात् दर्पण मेरे ज्ञानमें झलक रहा है। इस तरह हम एक यौक्तिक निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि जगतका मुझमें प्रतिबिम्बत होना—मेरे जगत् में प्रतिबिम्बत होनेकी अपेक्षा रखता है। इस प्रकार जगतमें और मुझमें ज्ञानकी अपेक्षा एक अविनाभावी सम्बन्ध है। मेरे बिना जगत नहीं, क्योंकि उसका जाननेवाला नहीं है, देखनेवाला नही है, और जगतके बिना मेरी स्थिति अथवा अस्तित्व सम्भव नही, क्योंकि ज्ञेय (जगत) के बिना ज्ञाता (मैं) की उपादेयता कुछ भी नहीं हो सकती। सिद्धावस्थामें मैं पूर्ण-ज्ञानस्वरूप हूँ, निर्मल ज्ञान-द्रव्य हूँ, ज्ञान ही मेरा शरीर है। और ज्ञानकी सार्थकता ज्ञेयके होनेपर निर्भर है—ज्ञेयके अभावमें, ज्ञेयसे रहित, भिन्न होकर मैं कुछ नहीं हूँ। इस प्रकार जगतमें और मुझमें एक अविनाभावी सम्बन्धकी आत्मीयता है। यह ज्ञानकी निर्मल आत्मीयता है—यही है शुद्ध, अखण्ड, पूर्ण प्रेम जो जगत और मेरे बीचका ऐक्य-सूत्र है, जो मुझे जगतसे बाँधे हुए है। जब मेरा अस्तित्व जगत पर निर्भर है और जगतका मुझपर, तो फिर भिन्नता कैसी ?

इस तरह हम देखते हैं कि ज्ञान-मार्ग और प्रेम-मार्गका समन्वय सम्भव हो सकता है। पूर्ण ज्ञान ही पूर्ण प्रेम है और पूर्ण प्रेम ही पूर्ण ज्ञान है। बिना जाने हमारा प्रेम पूर्ण नहीं है और बिना प्रेम किए हम जान नहीं सकते। इस प्रकार मुक्तिमें भी, परब्रह्म अवस्थामें भी, आत्मा और जगतके बीच ज्ञानका अथवा प्रेमका बन्धन है, अर्थात् मुक्ति स्वयं ही बंधन है। अंतिम, अनिवार्य, अखंड, अटूट, चिरन्तन्, निर्मल बंधनका नाम ही है मुक्ति। वह बंधन अपने

ही में चरम स्वातन्त्र्य भी है। दूसरे शब्दोंमें यह कहें कि उस निर्विकल्प अवस्थामें भाषाके मर्यादित शब्दों द्वारा हम भेद नहीं चीन्ह सकते। वह सारे भेद, विज्ञान और दार्शनिक भाषासे परेकी अवस्था है। वहाँ मुक्ति और बंधन एक दूसरेमें खोकर अपना भेद मिटा देते हैं।

इस तरह वीतरागता और सरागता, ज्ञान और प्रेम, दूरी और निकटता, प्रवृत्ति और निवृत्ति, ऐक्य और अनैक्य, बन्धन और मुक्ति आदि सारे द्वंद्वोंका भेद-भ्रम दूर हो जाता है—यदि हम शब्दोंकी अर्थ-सीमाका मोह त्याग कर, चीज़ोंके भीतर जाकर उनको उनके असल मानोंमें देखें। जब हम इन विभिन्न दृष्टिकोणोंको—देखनेके व्यक्तिगत तरीक़ोंको गहराईमें जाकर समझेंगे तो अन्ततः इन सारे तरीक़ोंको हम एक ही चीज़ की खोजमें प्रयत्नशील पाएगे। तो हम इस नतीजे पर पहुँचे कि दर्शनों, विचारों और ज्ञान-धारणाओंका सारा वैषम्य भाषा–परिभाषा, भिन्न–भिन्न पहुँचके तरीक़ों और दृष्टिकोणोंके कारण है। इन विभिन्न तरीक़ोंके दृष्टि-बिन्दु को हमें पूरी तरह समझ लेना होगा। दृष्टिकोण समझ लेनेके बाद सारे मुग़ालते और मुखालिफ़तें, सारे भेदभाव अपने आप दूर हो जाते हैं।

इस तरह हम सीधे इस निष्कर्षपर पहुँचते हैं कि ये सारे मत-वाद और विचार-संघर्ष वस्तुओंके प्रति एकान्त परात्मक या स्वात्मक दृष्टिकोण रखनेके कारण हैं, अथवा यों कहिये कि वस्तुओंके सत्य-निर्णयमें एकान्त रूपसे विधायक या निषेधात्मक शब्द-योजनाके प्रयोगके कारण हैं।

व्यक्ति और समाज : ३

जब हमने इस गुरको पा लिया है तो हम सहज ही सारे द्वन्द्व-द्वैतोंके बाह्य शाब्दिक भेदों को मिटाते हुए एक पूर्ण समाधान पर पहुँच सकते हैं।

सबसे बड़ा संघर्ष जो हमारे सामने आता है वह है व्यक्ति और समाजके बीच। हम समाजको अधिक महत्व दें या व्यक्तिको ? क्या समाजकी अवहेलना करके व्यक्ति पनप सकता है, प्रगति कर सकता है ?—अथवा व्यक्तिकी अवज्ञा करके समाज ज़िन्दा रह सकता है ? जब हम 'समाजवाद' और 'व्यक्तिवाद' शब्द कह कर, समाज और व्यक्तिके बीच एक निश्चित भिन्नताकी रेखा खींच देते हैं, तभी हम समाज और व्यक्तिके बीचकी अन्तिम सापेक्षताके अटूटनीय बन्धन को तोड़ देते है। वास्तवमें हम उस बन्धनको तो तोड़ नहीं पाते है, क्योंकि वह बन्धन तो तात्विक है; मात्र हमारी एकान्त बुद्धिवादिताके कारण हमें भ्रम होता है कि हम समाज और व्यक्तिको अलग अलग करके देख सकते हैं। असलमें इस तरहके सारे मत-वादोंके मूलमें है—एकान्त बुद्धिवादिता और उससे निपजनेवाला तर्क और सापेक्षता की उपेक्षा। एकान्तवादी तर्क हमें केवल बाह्य आवरणीय भेदोंका ज्ञान कराता है, परन्तु वह अन्तिम सापेक्षता और परस्परावलम्बिताके बोधको आच्छन्न करता है—सुगम नहीं होने देता।

व्यक्ति और समाजकी बहस तभी उठ खड़ी होती है जब हम उनके साथ 'वाद' शब्दका प्रयोग कर देते है। 'वाद' शब्दके प्रयोगके साथ ही समाज और व्यक्तिकी भिन्नताको हम एक निश्चयात्मकता दे देते हैं। हम एक एकांत दावे के साथ, सामाज और व्यक्तिके दो निश्चित पक्ष क़ायम करके, उनका मण्डन करते हैं, उनकी स्थापना करते हैं। जब दो पक्ष क़ायम हो गये तो सन्धि अभीष्ट नहीं होती बल्कि विग्रह हमारा लक्ष्य बन बैठता है। अपने-अपने पक्षका दोनों पार्टियोंको यदि आग्रह है, तो उसका स्वाभाविक परिणाम है अन्य पक्षके प्रति दुराग्रह। और जहाँ दुराग्रह आ गया, वहाँ अपने सीमित ज्ञान और भाषाके प्रति हममें मोह पैदा हो जाता है। और मोह ज्ञानका सबसे घातक शत्रु है—छद्मावरण है। मोहका दूसरा नाम

ही अज्ञान है। तो ज्यों-ज्यों हमारी वाद-भावना दृढ़ होती जाती है, त्यों-त्यों अपने प्रति हमारा मिथ्या मोह बढ़ता जाता हैं; हमारा सच्चा ज्ञान अज्ञान के अँधेरेसे आच्छन्न होने लगता है। परिणाम यह होता है कि हम स्वमोहके कषायसे आकुल और अशान्त होकर उठ बैठते हैं। मात्र शारीरिक इन्द्रिय-जन्य विरोध और संघर्ष हमारे पल्ले पड़ता है। हमारा आत्मप्रकाश खो जाता है और एक दूसरेकी शत्रुताका आवरण अपनी आत्मापर डालकर हम अज्ञान के अशेष अँधेरेमें भटकते रहते हैं। तो एकान्त आग्रहसे विशिष्ट वादकी स्थापना ही भ्रामक, अकल्याणकारी और ग़लत रास्तेपर ले जानेवाली है।

व्यक्ति और समाज शब्द भी वादके द्वारा ग्रसित होकर अन्तहीन संघर्षके चक्रमें पड़ गये है। जब व्यक्तिको लेकर हमने समाजकी और अत्यन्त वस्तु-प्रधान दृष्टिकोण रक्खा और समाजमें निश्चित परात्मकता की स्थापना की, तथा व्यक्तिको अत्यन्त स्वात्मक बना दिया, तब हमने समाजको व्यक्तिसे बिलकुल बाहर, अलग देखा, उनके बीचके ज्ञाता और ज्ञेयके अविनाभावी सम्बन्धवाले बन्धनको भुला दिया। इस एकान्त स्वात्मक और परात्मक दृष्टिकोणके कारण एक साथ ही व्यक्तिवाद और समाजवादका जन्म हुआ। जब हमने समाज और व्यक्तिके बीचके भौतिक सम्बन्धोंको आवश्यकतासे अधिक महत्व देकर, व्यक्तिको उसके आत्मविकास और आत्मैक्य साधनके लिए भी समाजके भौतिक मूल्यों और कृत्रिम भौतिक नियम-विधानोंका क़ायल बना दिया, तब वह व्यक्तिको समाजकी चुनौती साबित हुई और दोनोंका संघर्ष अनिवार्य हो गया। समाज और व्यक्तिके अन्तिम ऐक्य-साधनके लिए, व्यक्तिको समाजसे स्वार्थी, भौतिक मोह कम करके, अहिंसात्मक प्रेम-सम्बन्धकी स्थापना करनी होगी। अर्थात् भौतिक अपेक्षासे व्यक्तिको समाज, वस्तु-जगत और अपने बीचका मौलिक अन्तर पाना होगा, तभी आत्मैक्य साध्य हो सकेगा। इसलिए समाजके हेतु, समाज-की अपेक्षा जब हम व्यक्तिके आत्मदानकी बात करते हैं तब व्यक्ति अपने

भौतिक-ऐहिक स्वार्थोंका दान करता है, अपने मिथ्या व्यक्तित्वका विसर्जन करता है, अपने सच्चे व्यक्तित्वकी उपलब्धिके लिए अर्थात् आत्मसाक्षात्कारके लिए। इस आत्मोपलब्धिमें वह जगत और समाजको अपने ही अन्दर आत्मसात् कर लेता है, अथवा अपने सीमित व्यक्तित्वको विश्वात्मामें घुला देता है। आत्मदानमें 'सच्चे व्यक्तित्वका दान' तो अभिव्यक्ति ही ग़लत है। सच्चा व्यक्तित्व तो समाज और व्यक्तिका एक ही है, फिर उसमें दान देनेवाले और लेनेवाले दो पक्ष क़ायम कर देनेसे तो समाज और व्यक्तिकी तात्विक आत्मीयताकी ही हम अनजानमें अवज्ञा कर जाते हैं। तब तो ऐक्य-साधनके बजाय संघर्ष ही हमारा अभीष्ट हो जाता है।

असलमें समाज और व्यक्तिके बीचका संघर्ष हमारे नितान्त भौतिकवादी दृष्टिकोणके कारण है। मेरा तो ख्याल है, प्रवर्त्तमान युगके सारे संघर्ष वस्तुओंके एकान्त भौतिक मूल्यीकरणके कारण ही पैदा हुए हैं। आजके ये भीषणसे भीषणतर होते जा रहे संघर्ष इसी निर्बन्ध, उच्छृंखल भौतिकवादके दुष्परिणाम हैं। युगके सबसे बड़े जीवन-दर्शन, मार्क्सके वैज्ञानिक-समाजवादका मूलाधार भी फॉबॅस और हीगलका भौतिकवाद है, जिसको उसकी आदर्शवादितासे मुक्त करके तथा उसमें अन्य आवश्यक संशोधन करके, मार्क्सने अपने Materialistic conception of History (इतिहासकी भौतिक रूप-निर्धारणा) वाली थियरीकी प्रस्थापना की थी। समाजवाद अपने नग्न, मौलिकरूपमें, अपनी पैदायशी ज़मीनपर निरा प्रकृतिवाद है। वह प्रकृति के गर्भमें छिपी अज्ञात, अनिश्चित शक्तियों तथा प्रकृतिके नियम-विधान और शासनकी निर्विरोध और यौक्तिक स्वीकृति है। मार्क्सके सहयोगी, समाजवादके दूसरे ज़बरदस्त प्रतिपादक एंजिल्स ने अपने Anti Duhring में मार्क्सकी भौतिकवादी विश्व-धारणाका स्पष्टीकरण करते हुए एक दलील पेश की है, जिससे हमारे उक्त वक्तव्यका दृढ़ समर्थन हो जाता है। उसने लिखा है—"अगर हम यह जाननेकी कोशिश करें कि हमारे विचार और चेतना

(Thought and consciousness) क्या हैं और कहांसे आते हैं, तो हम पायेंगे कि वे मानवीय मस्तिष्ककी उपज है, और यह कि मनुष्य स्वयम् प्रकृति की पैदाइश है, जो अपनी विशिष्ट परिस्थितियोंमें उनके साथ अपना विकास कर रहा है। अतएव स्पष्ट है कि विचार और चेतना मानवीय मस्तिष्क की उपज होनेके कारण उपर्युक्त विश्लेषणके मुताबिक स्वयम् भी प्रकृतिकी ही उपज हैं। प्रकृतिकी ही उपज होनेकी सूरतमें विचार और चेतना प्रकृति के विरोधमें नहीं आ सकते, वे प्रकृतिके साथ सुसंगत और अनुकूल ही होंगे।"

उपर्युक्त वक्तव्यकी रोशनीमें किसी भी समझदार व्यक्तिको यह माननेमें आपत्ति नहीं होगी कि उक्त दलीलके दृष्टिकोणसे प्रकृतिसे भिन्न मनुष्यकी कोई विचारक सत्ता नहीं रह जाती। मानों मनुष्य, प्रकृतिकी विराट मशीन का एक अङ्ग मात्र है, उसकी अपनी कोई स्वतन्त्र चेतना अथवा कर्तृत्व नहीं है। प्रकृतिके नियम-विधानकी सुसंगतिमें ही मनुष्यमें यान्त्रिक रूपसे विचार-चेष्टा जीवनकी गतिके साथ स्वभावतः, निष्क्रिय रूपसे चलती रहती है। मनुष्य प्रकृतिके द्वारा निरन्तर शासित है, उसके लिए प्रकृतिके नियम-विधानसे विद्रोह करना, प्रकृतिकी शक्तियोंपर विजय प्राप्त करना अथवा प्रकृतिपर शासन करना असंभव है, क्योंकि वह प्रकृतिका एक अंश मात्र है, उससे भिन्न उसकी कोई चेतना, विचार, कर्तृत्व या अस्तित्व है ही नहीं। जब मानवीय अस्तित्व इतना यांत्रिक, निष्क्रिय और परतन्त्र है तो मनुष्य और पशुके बीचका भेद पहचाननेवाली मनुष्यकी कौनसी विशेषता है? सहज ही उत्तर मिलेगा कि वह मनुष्यका विवेक है, वह उसकी कार्य-कारण परम्परा खोजनेकी वृत्ति है, जो पशु-जीवनसे मानव-जीवनका प्रकार निश्चित करती है। यदि मनुष्यमें विवेक है तो क्या वह निर्विरोध रूपसे प्रकृतिका दास्य स्वीकार कर सकेगा, क्या उसकी कोई भिन्न, स्वतन्त्र विचार-सत्ता या कर्तृत्व न होगा? यदि प्रकृतिके नियम-विधान और हमारे बीच कोई विरोध या विसंगति सम्भव ही नहीं है तो क्यों न सारे मानवीय मस्तिष्क

एक ही नियमसे संचालित और शासित होते हैं, क्यों मनुष्योंमें इतना विचार-वैषम्य है, इतना विरोध-संघर्ष है ? यदि प्रकृतिकी शक्तियोंपर विजय प्राप्त करना, प्रकृतिपर शासन करना और उसके नियमन-नियन्त्रणसे मुक्त होना मानवके लिये असम्भव है तो मनुष्यके विवेकवान होने का अन्ततः क्या महत्व है ? जब विचार और चेतना मात्र प्रकृतिकी उपज हैं तो भावना, सहज-बुद्धि तथा विचार-चेतनामें क्या अन्तर रह जाता है ? विचार-चेतना अथवा विवेकका वह अभीष्ट-साध्य क्या है जो भावना अथवा सहज-बुद्धि द्वारा उपलब्ध नहीं किया जा सकता ? जब अन्ततः प्रकृति ही है और जब प्रकृतिसे ऊपर उठना अभीष्ट ही नहीं है तो विवेक और सहज-बुद्धिका भेद ही क्यों है ? क्यों न मनुष्य भावना और सहज-बुद्धिकी निर्बन्ध और संयम-नियमविहीन ज़िन्दगी जिये ?

स्पष्ट है कि एंजिल्सका उपर्युक्त यौक्तिक वक्तव्य अपनेमें ही विरोध-पूर्ण और अपूर्ण है। मनुष्यकी कारण-बुद्धि (विवेक) स्वयम् ही प्रकृतिको और प्रकृतिके नियम-विधानको चुनौती है। हमारी सारी विचार-चेतना और तज्जनित ज्ञान-विज्ञान-चेष्टा प्रकृतिपर मानवकी विजय-घोषणा है।

मार्क्सने स्वयम् अपने Materialistic Conception Of History (इतिहासकी भौतिकवादी रूप-निर्धारणा) का विवेचन करते हुए जिन शब्दोंमें प्रकृतिवादको स्वकृति दी है उसको यहाँ संक्षेपमें उद्धृत करके आगे बढ़ना अधिक इष्ट होगा। मार्क्स ने लिखा है—

'जीवनके साधन (आजीविका) के सामाजिक उत्पादनमें मानव-प्राणियोंको अपनी इच्छा-अनिच्छासे निरपेक्ष होकर कुछ निश्चित और आवश्यक सम्बन्धोंमें आबद्ध होना पड़ता है; वे उत्पादन-सम्बन्ध (Productjon relations) जो मानवोंकी उत्पादन-शक्तियोंके विकासकी एक निश्चित सीमासे सुसंगत होते हैं। इन्हीं उत्पादन-सम्बन्धोंकी सामूहिकता समाजके आर्थिक ढांचेका निर्माण करती है; वही वह वास्तविक भित्ति है जिसकी

संगतिमें समाजके राजनीतिक और सामाजिक ढाँचोंको रूपरेखा निश्चित होती है। अपने विकासकी एक भूमिका पर समाजकी वे उत्पादक शक्तियाँ समाजके वर्तमान उत्पादन-सम्बन्धों (साम्पत्तिक सम्बन्धों) के साथ संघर्षमें आती हैं और तभी एक सामाजिक क्रान्तिका जन्म होता है,......विकास एक सीधी रेखामें नहीं होता, वह आरोह-अवरोहमय होता है, उत्थान-पतनमय होता है, उसमें नाश-संहार होता है, रक्त-क्रांतियां होती हैं.........।"

एंजिल्सने अपने वक्तव्यमें हीगलके आदर्शवादी भौतिकवादका खण्डन करते हुए युक्ति-पूर्वक यह सिद्ध किया कि प्रकृतिसे भिन्न आदर्श जैसी कोई चीज़ सम्भव नहीं; हमारे विचार और चेतना हमें प्रकृतिसे विपरीत किसी आदर्शकी ओर नहीं ले जाते, क्योंकि वे स्वयम् प्रकृतिकी उपज हैं, इसलिए तत्वतः वे प्रकृतिके साथ सुसंगत ही रहेंगे। यह तो हुई प्रकृतिवादकी यौक्तिक स्वीकृति। मार्क्सने अपने उपर्युक्त वक्तव्यमें प्रकृतिवादकी इसी स्वीकृतिको एक सुनिश्चित वैज्ञानिक और दार्शनिक वादका रूप दिया। यहाँ एक बात स्पष्ट कर देना ज़रूरी है। हीगलका आदर्शवादी भौतिकवाद तो सचमुच अपनेमें ही विरोध-पूर्ण और ग़लत चीज़ थी। भौतिकवादमें किसी आदर्शकी गुंजा-यश थी ही नहीं! जब प्राणिमात्र एक जड़ तत्वकी उपज हैं और चेतन अथवा आत्मा जैसा कोई दूसरा भिन्न पदार्थ (Entity) है ही नहीं तो मनुष्यके विचार और चेतना, प्रकृति से भिन्न कोई चीज़ नहीं हो सकते थे और न वे किसी आदर्शकी ओर लेजा सकते थे। इस दृष्टिसे एंजिल्सने जो युक्ति द्वारा हीगलके आदर्शवादी भौतिकवादका खण्डन करके उसमें संशोधन किया वह बिलकुल आवश्यक और उचित था—भौतिकवाद तो पूर्ण प्रकृतिवाद ही हो सकता था—उसमें आदर्शको स्थान देना तो निश्चय ही युक्तिसंगत नहीं था। वैज्ञानिक समाजवादकी बुनियादी ग़लतियों के लिए तो उसकी पूर्वगामी भौतिकवादी-दार्शनिक-परम्परा ही पूर्णतः जिम्मे-दार है।

मार्क्सके उपर्युक्त ऐतिहासिक भौतिकवादमें (Materialistic Conception of History) हमने यह स्पष्ट देखा कि वह शक्तिकी फिलॉसफ़ी है, वह हमें प्रकृतिकी शक्तियोंका क़ायल बना देती है। मनुष्य स्वयम् प्रकृति की उपज है, इसलिए उसकी उत्पादक-शक्तियाँ (Productive Forces) युक्तितः प्रकृतिकी शक्तियां हैं और उसी तरह मानवोंके उत्पादन-सम्बन्ध (Production Relations) युक्तितः प्रकृतिकी शक्तियोंके सम्बन्ध हैं। उत्पादक-शक्तियां जब अपने विकासमें एक विशिष्ट सीमापर मानव-समाजके वर्त्तमान उत्पादक-सम्बन्धोंसे अनिवार्यरूपसे संघर्षमें आती हैं, तभी सामाजिक क्रान्तिका जन्म होता है। जो समाज वर्त्तमान है, अस्तित्वमें है, उसकी हस्ती मिटाकर नया समाज अपना अस्तित्व क़ायम करना चाहता है। जब नया समाज पुराने समाजको उसके साम्पत्तिक अधिकारोंसे महेरूम करना चाहेगा तो पुराना समाज अपने जीवनकी क़ीमतपर भी नयी शक्तिके साथ जूझेगा, युद्ध करेगा; अर्थात् रक्तक्रांति इस संघर्षकी अनिवार्य शर्त है। क्योंकि मार्क्स अपनी थियरीमें 'उत्पादक शक्तियों' और 'उत्पादन-सम्बन्धों' (साम्पत्तिक अधिकारों) को मानव जीवनके दो मूल पदार्थ-तत्व (Entities) मानकर चले हैं, अतएव युक्तितः उत्पादन-सम्बन्ध तो मानवके अस्तित्वकी शर्त हैं। दूसरे शब्दोंमें कह सकते हैं कि साम्पत्तिक अधिकारका नाम ही जीवन है, अस्तित्व है, अर्थात् मानवका जीवन स्वयं एक अर्थ-तत्व है। ऐसी दशामें उक्त सामाजिक क्रान्तिमें वर्तमान पुराना समाज मरकर ही अपना साम्पत्तिक अधिकार छोड़ेगा और इस तरह एकको मिटाकर ही दूसरा जी सकेगा। इस ज़मीनपर यह स्वतः सिद्ध हो जाता है कि पशु-जगत्के अस्तित्व-संघर्ष (Struggle for existence) और मानवोंके जीवन-संघर्ष अथवा सामाजिक क्रान्तिमें कोई मौलिक भेद नहीं है। इसी युक्ति-शृंखलामें यह भी अपने आप सिद्ध हो जाता है कि डारविनके विकास-वादकी थियरीमें और मार्क्सकी उत्पादक-शक्तियोंके विकासकी थियरीमें कोई बुनियादी मुख़ालिफ़त

नहीं है। दोनों ही शक्ति-प्रधान दर्शन धारणायें हैं; दोनों ही प्रकृतिकी अज्ञात शक्तियोंकी क़ायल हैं; दोनों ही जीवनकी प्रगतिको आदर्शोन्मुख नहीं मानतीं; दोनों ही की दृष्टिमें जीवन संघर्ष मात्र है; जीवन संघर्षों और क्रान्तियों की एक अन्त-हीन श्रृंखला अथवा चक्र (Cycle) है; संघर्ष स्वयं ही अपना लक्ष्य, साध्य अथवा पूर्णता है।

पर यह प्राणिशास्त्र (Biology) के मूल सिद्धान्त (अस्तित्व-संघर्ष और विकासवाद) के आधारपर बना हुआ वैज्ञानिक समाजवाद जब विकसित होकर अपनी रूप-रेखा और कार्य-विधान निश्चित करनेमें, मानव-समाजके विभिन्न वर्गोंमें साम्यप्रस्थापन और समानाधिकारकी कल्याणकारी योजनाको अपना ध्येय बना लेता है, तब वह अपने अनजाने ही अपने मूलभूत सिद्धान्त (अस्तित्व-संघर्ष और विकासवाद) के साथ विरोधमें आ जाता है। इस जगह अपने मूलमें प्रकृतिवादी होकर समाजवाद अपनी कार्य-योजनामें और अपना साध्य निर्णय करने में अनायास ही प्रकृति-विरोधी हो उठता है, अनजाने ही स्थायी साम्य-प्रस्थापना उसका अदर्श बन बैठता है। जब कि मार्क्सने अपनी इतिहासकी भौतिक रूप-निर्धारणावाली थियरीमें आदर्शवादी भौतिकवादका खण्डन करके अदर्शवादको युक्ति-विसंगत और ग़लत साबित करके अस्वीकृत कर दिया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि प्राणिशास्त्रकी बुनियादपर खड़ा हुआ समाजवाद आगे जाकर प्राणिशास्त्रके खिलाफ़ पड़ जाता है। प्रकृति समानतासे नफ़रत करती है, वह तो व्यक्तियों, वर्गों और जीव-जातियों (Species) के भेद और संघर्षको प्रेम करती है, प्रोत्साहित करती है। विकासवाद सशक्तों के द्वारा अशक्त व्यक्ति, वर्ग, समाज, जाति, और राष्ट्रके उपयोग, दमन और शोषणको आवश्यक और अनिवार्य बना देता है। तब तो यह बात आईनेकी तरह साफ़ हो जाती है कि समाजवाद अपनी थियरीमें ही पूर्वापर विरोधी अपूर्ण, भ्रान्त और ग़लत है।

प्रकृतिके निर्बाध शक्ति-शासनको पूर्ण स्वीकृत दे देनेपर, आदर्शके नितान्त अभावमें तो उचित-अनुचित, नैतिक-अनैतिक, न्याय-अन्याय, सदा-चार-दुराचार और सही-ग़लतका सवाल ही नहीं उठता। तब तो (Might is-right) 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' वाली जंगल-नीति ही सबसे बड़ी और आदर्श शासन-नीति है। नग्न प्रकृतिवादको स्वीकृतिके साथ तो प्रकृतिकी इस शासन-नीतिको अनिवार्यरूपसे स्वीकृति देनी ही होगी। वर्ग-युद्धमें पीड़क और पीड़ित, शोषक और शोषितका जो युद्ध है वह वही मूलभूत विकासशील उत्पादक-शक्तियों और वर्तमान उत्पादन-सम्बन्धोंका युद्ध है" अर्थात् वह शक्ति-युद्ध है। आदर्शके अभावमें हम उन दोनोंमेंसे किसी भी पक्षको उचित-अनुचित, न्यायी-अन्यायी या नैतिक-अनैतिक नहीं कह सकते। प्रकृति के नियम-विधानमें तो शक्ति ही स्वयं न्याय है, आदर्श है। ऐसी अवस्थामें तो हम शोषक पूँजीवादको भी अन्यायपूर्ण, अनैतिक या ग़लत क़रार नहीं दे सकते, जब तक कि वह शक्तिशाली है और नवीन उत्पादक शक्तियोंसे परास्त नहीं कर दिया जाता। एक हैवानी ताक़त (शरीरबल) और दूसरी हैवानी ताक़तके युद्धमें नीति-अनीतिका भेद कैसा ! दोनों ही पक्ष हिंसासे पूर्ण हैं, दोनों ही एक दूसरेका खून बहाकर, एक दूसरेको मिटाकर साम्पत्तिक अधिकार लेना चाहते हैं, दोनोंका मोह एक ही चीज़का है, फिर किसको न्याय-संगत और किसको अन्याय-संगत कहें ?

तब युग-धर्मके इस अनुरोधकी और भी गहरी पड़ताल ज़रूरी हो जाती है।

युग-धर्म किस ओर ? : ४

धर्म तो युगातीत है—प्राण-देवता निरन्तर हमारे भीतर उसकी साक्षी दे रहा है। पर नाना संघर्षों और क्रिया-प्रतिक्रियाओंमें होकर जो युगकी

तात्कालिक मांग हमारे भीतर पुकार रही है,—उसीको हम युग-धर्म कह सकते हैं। कहा जाता है कि आज शोषणके दुश्चक्रोंमें पिस रही मनुष्यताके भीतर अनुरोध है एक सार्वभौम मानव-समाजकी स्थापनाके लिए। प्राण-प्राण के भीतर यह वेदना है; इसका क्या बाहरसे कोई बौद्धिक निर्णय करना होगा? पर इसका भी बौद्धिक निर्णय हुए बिना न रह सका। कहा गया कि माँग है समाजवाद की—और उसकी ठीक-ठीक शकल अमुक होगी, जो विज्ञान और तर्कसे कसी हुई है।

उस वैज्ञानिक समाजवादने अपनेको रूसमें सिद्ध कर दिखाया। कार्ल मार्क्सके हृदयमें विश्वकी पीड़ित मानवताके प्रति जो दर्द और प्रेमका दरिया बहा, उसे इनकार कर सकनेकी कृतघ्नता कौन कर सकता है? साम्यवादी रूसके विधाता लेनिनके कष्ट-सहन, त्याग और तपस्याकी जोड़ विश्वके इतिहासमें शायद ही दूसरी हो। लेनिन अपने युगके विश्वकी मूर्तिमान कर्म-शक्ति थे। उस कर्मयोगी महात्माके आत्मदानके सम्मुख हमारा मस्तक नत है!

आत्माकी वेदना, प्राणका अनुरोध तो सबमें वही एक था—वही एक अव्याहत विश्व-कुटुम्बकी स्थापना। पर सिद्धान्त जब बुद्धिपर कसा गया तो इतना तना कि अपनी बुनियादसे टूट गया। आत्माकी मौलिक चिद्रूपता और एकात्मभावसे ही जब इनकार कर दिया गया—तो प्रेरणाका स्रोत जो प्रेम और वेदना थी उसीकी अवज्ञा हो गई और हाथ रह गया कोरा सिद्धान्त। मानव-धर्मको पैरों तले दफ़ना कर उसपर मानव-वादका भूत खड़ा हो गया। सिद्धान्त और आत्म-चेतनाके इस बुनियादी विच्छेदके कारण मौजूदा साम्यवादी व्यवस्था में जो विपर्यय हमें गुथा दिखाई दइता है—उसी पर कुछ रोशनी डालनेका नम्र प्रयत्न नीचेकी पंक्तियोंमें है।

यह जो धनके समानाधिकार और समान-वितरणकी मांग है, यह किसी आदर्श अथवा मानवीय आत्मीयतासे प्रेरित है, ऐसा माननेकी कोई भी

गुंजायश आदर्शहीन, भौतिकवादी समाजवादमें नहीं है। प्रेम, मनुष्यता, आदर्श, आत्मीयता, सहानुभूति आदि आत्माके व्यक्त पारमार्थिक धर्मोंको तात्विक समाजवादमें स्थान नहीं है, क्योंकि समाजवाद जड़ तत्वसे भिन्न किसी आत्मा या ईश्वर नामके तत्वको स्वीकार नहीं करता। आत्म-तत्वके अभावमें भौतिकवादी समाजवादमें—वह कौन-सा एक तत्व अथवा धर्म हो सकता है जो जीव-मात्र अथवा मनुष्य-मात्रको—एकात्मीयता, प्रेम, अहिंसा और सहानुभूतिके एक डोरेमें पिरो सके? आत्म-तत्वके अभावमें जड़ तत्व सदा ही संघर्षाभिभूत रहेंगे। यदि प्राणियोंमें कोई एक सर्वव्यापी (Common) आत्म-तत्व जैसी चीज़ नहीं है, तो वे एक दूसरेके लिए सहानुभूति, आत्मीयता, तादात्मय अथवा समान-भाव क्योंकर जता सकेंगे? और जब नहीं जता सकेंगे तो साम्य-स्थापना एक मनोवैज्ञानिक असम्भाव्यता है। कहनेका मक़सद यह है कि यदि समाजवाद आत्मा अथवा ईश्वरको अस्वीकार करता है तो उसे आत्माके निसर्ग व्यक्त धर्म प्रेम, सहानुभूति, आत्मीयता, अहिंसा और समान-भावको भी अनिवार्य रूपसे इनकार कर देना होगा। और जब प्रेम, सहानुभूति और मनुष्यता जैसी कोई चीज़ है ही नहीं तो फिर शोषक और शोषित, पीड़क और पीड़ितके बीच, न्याय-अन्याय, नैतिक-अनैतिक तथा औचित्यानौचित्यका भेद निराधार है। पूँजीपति और ग़रीब, पीड़क और पीड़ित, ज़ालिम और मज़लूम दोनों ही का पक्ष न्याय-संगत है। अपनी-अपनी अपेक्षासे दोनों ही की स्थिति नैतिक है। दोनों ही उचित रास्तेपर हैं। जब शक्ति ही नीति-अनीतिकी आधार-भूत मापदण्ड है तो जो शक्ति-शाली है, जो जीवन-संघर्षमें अपनी हैवानी ताक़तसे दूसरोंकी हस्ती मिटाकर जी सकता है, वही नैतिक है, और जो अशक्त है, पराजित होता है—मारा जाता है, वही अनैतिक है।

आज जो शोषित वर्ग सम्पत्तिका समानाधिकार अथवा समान वितरण चाहता है, वह भी भौतिकवादी समाजवादकी मूल थीयरी (Materialisic

Conception of history) के नियमोंको सुसंगतिमें धनकी शक्ति पाकर अपने पूर्ववर्ती वर्गकी तरह स्वभावतः अधिकार-मोहसे ग्रसित होकर धन-संचय और शक्ति-संचयकी ओर अग्रसर होगा। पूँजी और शासन का केन्द्रीकरण अनिवार्य हो जायगा, और इस तरह अन्ततः आजके शोषित और पीड़ित अपने पूर्वगामियोंकी तरह कल शोषक, पीड़क और ज़ालिम होकर रहेंगे। क्योंकि शरीरबल अथवा साम्पत्तिक-शक्तिको ही प्रधान मान लेनेपर ऐसा कोई पारमार्थिक आदर्श नहीं रह जाता जिसके लिए समाजके विभिन्न व्यक्ति अपनी भौतिक शक्ति-सम्पत्ति, समृद्धि या सुख-विलास का दूसरे व्यक्तियोंके लिए त्याग करें। आत्म-तत्वके अभावमें जब प्रेम, सहानुभूति, आत्मीयता तथा समान भाव आदि तत्व मानव-जीवनमें प्रवर्तित नहीं हैं तो क्यों धनिक ग़रीबको देखकर हमदर्दी करेगा ? क्यों एक मनुष्य दूसरे मनुष्यके सुख-दुखकी परवाह करेगा ? और क्यों न शक्तिके मदमें उन्मत्त होकर सभी मौक़ा पाकर अपनी ताक़त बढ़ाना चाहेंगे ? यदि मनुष्यके सामाजिक सम्बन्ध मूलतः उत्पादन-सम्बन्ध हैं—मात्र आर्थिक सम्बन्ध हैं, एक मनुष्य को दूसरेसे बाँधनेवाला मूल तत्व रोटी ही है और उससे परे जाकर शुद्ध प्रेम, आत्मीयता अथवा मानवीयताके कोई सम्बन्ध हैं ही नहीं—अथवा हैं तो गौण हैं, रोटीके कारण हैं—रोटीके मार्फत हैं, तो निश्चय ही मनुष्य रोटीके लिए, साम्पत्तिक अधिकारके लिए बिना किसी प्रेम अथवा मनुष्यताकी पर्वाह किये, मारे-मरेगा, बे-खटके खूनकी नदियाँ बहायेगा। फिर तो मानव-जीवनमें सुख-शान्ति और कल्याणकी कल्पना मात्र विडम्बना है। समाजवाद किसी चीज़ को पवित्र नहीं मानता, तब जीवनका आदर क्योंकर हो सकेगा ? रोटीसे—अर्थ से अधिक जीवनका कोई मूल्य है ही नहीं—अर्थ ही जीवन है ! फिर कोई क्यों हिंसा करनेमें हिचकेगा, जान ले लेना तो एक मामूली बात हो जायगी !

कहनेका तात्पर्य यह कि आत्म-तत्वकी श्रद्धाके अभावमें मानव-प्राणियों में परस्पर अहिंसा, प्रेम, सहानुभूति, आत्मीयता और समान-भावके सम्बन्धों

की स्थापना नहीं हो सकती। और अहिंसा तथा प्रेम-धर्मके सम्बन्ध यदि मानवोंमें परस्पर नहीं हैं तो वे एक दूसरेके लिए अपने भौतिक स्वार्थोंका त्याग अथवा आत्म-बलिदान करनेको उद्यत नहीं हो सकते। और त्याग करने की क्षमता यदि मानवोंमें नहीं है तो साम्यवादकी स्थापना ही एक असम्भवनीयता है। आदर्श साम्यवादमें तो व्यक्तियोंको समाजके लिए अपने वैयक्तिक भौतिक स्वार्थोंका त्याग करना पड़ेगा। त्याग, सेवा और आत्मदानका जीवन हमें जीना होगा। पर मनुष्यताके इन आदर्शोंका तात्विक समाजवादमें कोई स्थान नहीं; क्योंकि समाजवाद अपने मूल रूपमें नग्न प्रकृतिवाद है। वह किसी आदर्शमें विश्वास नहीं करता। आदर्शको इनकार करके ही उसकी नींव डाली गई है। वह तो जीव-जातियों (Species) के अस्तित्व-संघर्षकी तरह ही मानवोंके अन्तहीन वर्ग-संघर्षमें विश्वास करता है। ऐसी अवस्थामें जो हमारे समाजवादी भाई एक स्थायी, आदर्श सुख-शान्ति, आनन्द-कल्याणसे परिपूर्ण साम्यवादी मानव-विश्वके स्वर्णयुग (Millenium) का स्वप्न देख रहे हैं—वह किस बुनियाद पर ? मार्क्सकी मूल थियरी-इतिहासकी भौतिकवादी व्याख्याके आधारपर ऐसे किसी आदर्श स्वर्ण-युगका स्वप्न देखना थीयरीके मूल सिद्धान्तोंसे विसंगत है।

भौतिकवादी समाजमें जीवनके भौतिक मूल्योंको ही एकान्त रूपसे महत्व दिया जायगा। तब व्यक्ति भी अपने जीवनमें भौतिक स्वार्थोंको अधिक महत्व देंगे। सब अपने-अपने स्वार्थोंसे चिपटेंगे। यदि मनुष्यता, आत्मा या आदर्श नामकी कोई चीज़ होगी ही नहीं, जो निरे शरीरसे भिन्न पदार्थ हो, तो व्यक्ति अपने शारीरिक स्वार्थ, अपनी सम्पत्ति, अपने भौतिक सुख-भोगके साधनोंका त्याग करनेके लिए क्यों प्रेरित अथवा तत्पर होंगे। जब भौतिक सुख अथवा साम्पत्तिक अधिकार ही अपनेमें पूर्ण और आदर्श हैं, जब संघर्ष ही लक्ष्य है तो क्यों व्यक्ति त्याग करे—क्यों पूर्ण सुख, शान्ति या कल्याणकी स्थापनाकी बात सोचे ?

आप शायद कहेंगे, स्टेटके द्वारा व्यक्तियों पर नियंत्रण रक्खा जायगा, कोई व्यक्तिगत सम्पत्ति होगी ही नहीं। पर वह स्टेट भी तो व्यक्तियोंकी ही बनेगी और उस स्टेटका प्रेसीडेंट भी तो व्यक्ति ही होगा। जब शक्ति ही जीवन-धर्म है, साम्पत्तिक अधिकार ही जब जीवनका आदर्श है, जब नीति-अनीति और न्याय-अन्यायका भेद निश्चित करनेवाला कोई स्थायी आधार-तत्व ही नहीं है, जब आत्माके अभावमें पारमार्थिकता या परोपकारिता जैसी स्थायी, उदात्त वृत्तियोंका मानव-जीवनमें सद्भाव ही नहीं है; जब हमारी महत्वाकांक्षाएं भौतिक उत्कर्ष तक ही सीमित हैं और जब हमारी कोई आध्यात्मिक महत्वाकांक्षा या आदर्श है ही नहीं, तो जिन व्यक्तियोंके हाथमें स्टेटका शासन-सूत्र है वे क्यों न अवसर पाकर अपनेको सशक्त बनायेंगे, क्यों न वे स्टेटके धनका अधिकसे अधिक लाभ उठाकर अपनी भौतिक इच्छा-वासनाओं और भोग-लालसाओंकी तृप्तिमें लिप्त होंगे, क्यों न वे सत्ता-शासन, समृद्धि, अधिकार, स्वामित्व-भोग और राज्य-तृष्णा जैसी अत्यन्त दुर्जेय मानवीय वासनाओंके शिकार होंगे? शक्ति और अधिकारके उन्मादमें दूसरोंके वंचित रहनेकी चिन्ता उन्हें क्यों होगी? 'इतिहासकी भौतिक रूप-निर्धारणा' वाली थियरीके अनुक्रममें होनेवाली समाजके नवीन उत्पादन-सम्बन्धोंकी प्रगतिमें स्टेटके व्यक्ति, यौक्तिक और निसर्ग रूपसे शक्ति संचय करेंगे—वे ज़ालिम और शोषक होकर रहेंगे। कोई कारण नहीं है जिसके लिए वे अपना लोभ संवरण करें, कोई नैतिक आदर्श नहीं जिसके लिये वे अपनी भौतिक इच्छा-वासनाओंका त्याग करें—क्योंकि समाजवादमें धन और राज्य-समृद्धि ही स्वयम् आदर्श हैं।

आज जो हम सोवियत रूसमें समाजवादके नामपर निर्विवेक मानव-हत्या देख रहे हैं—उसका कारण उसकी मूलाधार आदर्शहीन भौतिकवादिता ही है। राष्ट्रके लक्ष-लक्ष व्यक्तियों की इच्छा-कांक्षाओं, भावना-वासनाओंका जब स्टेट राजनैतिक, आर्थिक और क़ानूनी नियम-

विधान द्वारा कॉन्ट्रेक्ट ले लेती है, तब स्टेटके शासक— एक प्रतिनिधि मंडलमें होकर एक विशिष्ट व्यक्तिमें राष्ट्रके समस्त व्यक्तियोंके मन और मस्तिष्कका एकच्छत्र शासक प्रतिष्ठित कर दिया जाता है। तब प्रतिक्रियात्मक रूपसे अधिकार और सत्ताकी वासनासे उन्मत्त इस व्यक्तिमें स्वेच्छाचारी डिक्टेटरका जन्म होता हैं। सारे राष्ट्रके व्यक्तियोंकी भावना और विचार-चेष्टाएं एक व्यक्तिकी इच्छा और स्टेटके क़ानून-विधानकी गुलाम होकर रहती है। क्या इसी आध्यात्मिक और मानसिक गुलामीका नाम है समाजवाद; जिसमें व्यक्तियोंको अपनी भावना, अनुभूति, अपने संवेदन-उच्छ्वास, अपनी आत्म-वेदना, कांक्षा-जिज्ञासा और अपने विचार-चिंतनको स्वाभाविक रूपसे अभिव्यक्त करने जितना भी आत्म-स्वातन्त्र्य न हो ? साम्यवादी रूसमें प्रेस-स्वातन्त्र्य नहीं है—स्वतंत्र आत्माभिव्यक्तिके साधन साहित्य और कला भी स्टेटके क़ानूनके गुलाम हैं। व्यक्तिको अपने विचार, अनुभूति और भावनाको निसर्ग रूपसे व्यक्त करनेका अधिकार नहीं; कुछ व्यक्तियोंकी इच्छासे बने हुए स्टेटके क़ानूनके स्वरमें ही व्यक्तिको अनुभव करना और सोचना होता है। मानवका हृदय और मस्तिष्क एक शासक व्यक्तिकी इच्छा और अधिकारसे ही संचालित होता है। सुप्रसिद्ध प्रगतिशील आलोचक बॅरट्रॅम वुल्फ ने अमेरिकाके एक उत्कृष्ट प्रगतिशील पत्र "Worker's Age" में एक वक्तव्य निकाला था—उसका थोड़ासा अंश इसे प्रमाणित करनेके लिये काफी होगा —

"......१६२८ से कलाके प्रदर्शनोंमें ऐसे चित्रोंकी भरमार बढ़ती ही जा रही है जिनमें बड़ी-बड़ी सैनिक लड़ाइयां जीतते हुए स्तालिनके दृश्य दिखाये जाते हैं; हज़ारों चित्रकार स्तालिनकी बड़ी ही कुरूप, कपोल-कल्पित और बेतुके ढंगसे खींची हुई तस्वीरें पेश करते हैं। पार्टीकी गतिविधिके हर घुमाव और मोड़के साथ इन चित्रोंकी चित्रण-शैलियां बदलती गई हैं। १६३६ तकका स्तालिन सदा कठोर, स्मित-हास्य-विहीन, बहादुराना अंदाज़से

एकाकी खड़े हुए एक लोह-पुरुषके रूपमें सामने आया है। लेकिन उसके बाद वह एक परोपजीवी, वत्सल कुलपतिके रूपमें नज़र आने लगा; लोगोंके माथे पर हाथ फेरते हुए, बच्चोंको चूमते हुए, अपने कुटुम्बियोंसे घिरकर बैठे हुए, सबके प्रति एक स्थिर मुस्कानके साथ एकटक देखते हुए एक महान मानववादीके रूपमें प्रकट होने लगा। और यहां उसके जीवनकी वह घड़ी थी जब उसने हत्याओं द्वारा अपने मत-विरोधियोंके शोधनका काम आरम्भ किया !......और इस सबसे भी अधिक भयंकर और दुखद घटना तो यह थी कि शुद्ध विज्ञानके क्षेत्रमें भी इस (हत्यारी) नीतिका उपयोग किया गया; ज्योतिष-शास्त्रियों, प्राणि-शास्त्रियों और रासायनिकोंको महज़ इसलिये जेलोंमें ठूंस दिया गया और गोलीसे उड़ा दिया गया कि उनके वैज्ञानिक मत-विश्वास स्तालिन और उसके सहयोगी शासक-मण्डलके विचारोंके साथ मेल नहीं खाते थे।"

मानवकी ज्ञान-विज्ञान और कलाकी स्वतन्त्र वृत्तियों पर भीतर ही भीतर होनेवाला यह घातक दमन-नियंत्रण क्या किसी भी बड़ीसे बड़ी साम्राज्यशाही और ज़ारशाहीके बाहर दीख पड़नेवाले अत्याचारोंसे कम है ?

इस प्रकार समाज-वाद और व्यक्तिवादके संघर्षके कारणोंकी खोजमें, वैज्ञानिक समाजवादके विस्तृत और तात्विक अध्ययनके बाद हम जिन परिणामों पर पहुँचे, उनका संक्षिप्त उल्लेख स्पष्टीकरणके लिये आवश्यक है। जीवनके एकान्त भौतिक मूल्यांकनके कारण जीवनके दूसरे तत्व आत्माकी अवज्ञा हुई। मार्क्स अपनी थियरीमें आत्मा, ईश्वर और धर्मको मिटाकर चला था अवश्य, पर बुद्धि और युक्तिके द्वारा आत्म-तत्वका जो फिनॉमनॉन अस्तित्वमें है-उसकी सत्ताको तो वह नहीं मिटा सका। इस प्रकार एक व्यक्तिके भ्रमित ज्ञानसे सत्यकी अवज्ञा हुई—उसीका प्रतिक्रियात्मक परिणाम है हिंसा और संघर्ष। जब आत्माका अनादर हुआ और सृष्टिकी कल्याण-योजनामें—जीवनके आध्यात्मिक मूल्योंको स्थान न मिला तो संघर्ष अनिवार्य था। मार्क्सकी सैद्धान्तिक सृष्टि-योजनामें आत्माको स्थान न दिया गया। इसका

अर्थ यह नहीं कि वास्तविक सृष्टिमेंसे ही आत्म-तत्व लुप्त हो गया। आत्म-तत्वके इनकार करनेसे ही जीवनके मूलभूत दो तत्व चेतन और जड़का संघर्ष इतना असाधारण रूपसे भीषण हो उठा। जगतकी छाती पर जो आज हिंसाके ये महानाशकारी विस्फोट हो रहे हैं, ये इसी असाधारण हो उठे जड़-चेतन संघर्षके प्रतिक्रियात्मक परिणाम हैं। जीवनके भौतिक मूल्योंको जब एकान्त रूपसे महत्व प्रदान कर दिया गया तो व्यक्तियोंने अपने जीवनमें अपने व्यक्तिगत भौतिक मूल्योंको, अपनी भौतिक इच्छा-वासनाओंको अधिक महत्व दिया। तब व्यक्ति समाजके लिये आत्मदान करनेके बजाय अधिक आत्म-पूजक बन गया, वह अधिक स्वार्थी हो गया; समाजके लिये अपने व्यक्तिगत स्वार्थोंका त्याग करनेके बजाय वह अपनी स्वार्थ-साधनाकी ओर उन्मुख हो गया। उसमें आत्म-मोह जागा, तब एकान्त व्यक्तिवादका जन्म हुआ। इस तरह भौतिक समाजवादकी प्रतिक्रिया भौतिक व्यक्तिवादमें हुई। व्यक्तियोंके स्वार्थ भयङ्कर हो उठे। उनके संघर्षने हिंसाकी विकराल चण्डीको जन्म दिया, जो यूरपकी छातीपर ताण्डव नृत्य कर रही है।

समाजके साथ 'वाद' शब्दको जोड़कर समाजवादको एक आदर्शके रूप में मूर्त किया गया—तब समाज मानों व्यक्तिसे बाहर एक प्रतिमाके रूपमें प्रतिष्ठित हो गया। समाज और व्यक्तिके बीचमें आतङ्ककी स्थापना हुई—और उससे प्रेमका ह्रास हुआ। समाजवादने बुतपरस्तीका रूप धारण किया—वह धर्म-मज़हब बना। तब स्टेटका प्लेटफॉर्म भी चर्चके ऑल्टरकी तरह स्वार्थियों और अत्याचारोंके ओट पानेकी जगह बन गई; पोपों और धार्मिक महन्तोंका स्थान डिक्टेटरोंने ले लिया।

इस तरह हम युगकी सारी शक्तियों और ज्वलन्त सचाईयोंके प्रकाशमें यौक्तिक रूपसे इस निष्कर्ष पर पहुँच सके हैं कि अति-समिष्टवाद और अति-व्यष्टिवाद दोनों ही की जन्मभूमि एकान्त भौतिकवाद है। यदि जीवनके आध्यात्मिक मूल्यों और भौतिक मूल्योंको समान महत्व देकर उनका संतुलन किया

जाता तो समाज और व्यक्ति दोनों ही की उचित मर्यादाओंकी रक्षा सम्भवित हो सकती और उनके आपेक्षिक-बंधनको चोट न पहुँचती। इस दृष्टि से बिना किसी राष्ट्रीय मोह और दुराग्रहके हमें यह कहनेका मौक़ा मिलता है—और शायद हम दावेके साथ कह सकते है कि भारतवर्ष अपने प्राचीन आर्यावर्तके सुसंगठित समाज-विधानको लेकर इस मामलेमें आज भी संसारका रहनुमा और आदर्श होनेका गर्व कर सकता है। प्राचीन आर्यावर्तके सामाजिक संगठनकी सबसे बड़ी खूबी यही जीवनके भौतिक और आध्यात्मिक मूल्यों का संतुलन और सामंजस्य-साधन था। अगर हिमाक़त न समझी जाय, और आजकी दुनियाके मसीहा और मानव-जातिके विधाता इजाज़त दें तो—संसारके राष्ट्रोंको हमारा निमन्त्रण है कि वे अब इन्सानियतके साथ खूनी खेल खेलनेके प्रोग्रामों, प्रयोगों और आयोजनोंको छोड़कर हमारे घर भारतवर्ष के मेहमान हों और प्राचीन आर्यावर्तके सामाजिक संगठन और शासन-विधान के मूल तत्वोंका अध्ययन करें। हाँ, अपनी राष्ट्रीयतामें ग़रीब पर अपनी अराष्ट्रीयताके लिए और भी अधिक गौरवशाली भारतवर्ष अपनी इस राजनैतिक और आर्थिक गुलामीके महासंकट-कालमें भी अपनी आध्यात्मिक और दार्शनिक ज्ञान-सम्पत्तिके बूते एक बार फिर मस्तक ऊँचा कर, संसारका गुरु होने का दावा कर सकता है। हो सकता है, बुद्धिको चकित कर देनेवाली अपनी भौतिक-विद्या विज्ञान और आँखोंको चौंधिया देनेवाले अपार वैभव-विलासके चरम उत्कर्षपर पहुँचे हुए सभ्यता और संस्कृतिके दावेदार पश्चिम-के राष्ट्रोंको अपनी सभ्यता, समृद्धि, वैभव और सांस्कृतिक विकास पर नाज़ हो; पर समुद्रोंको चीरकर आती हुई यूरपकी तृषित आत्माकी आर्त पुकारको भारतवर्षने सुना है! वर्तमान यूरपके महान् हितचिन्तक, शान्तिके पैग़म्बर रोम्या-रोलांने अपने गाँधी और रामकृष्ण परमहंसके जीवन-चरितों में भारतवर्षके इस आध्यात्मिक अमृतको नाशोन्मुख यूरपके प्राणोंमें पहुँचाना चाहा है। रामकृष्णके जीवन-चरित्रमें इसीलिए उन्होंने दो प्राक्कथन लिखे

थे। एक है 'पूर्वीय-पाठकोंके प्रति।' दूसरा है 'पाश्चात्य पाठकोंके प्रति।' इन प्राक्कथनोंमें उन्होंने भौतिकवादसे जर्जर, त्रस्त पश्चिमको भारतवर्षके पास शान्ति और अमृत लेने जानेका आदेश किया है।

जब एक ओर पश्चिमके मसीहाओंका यह रवैया है—तब भारतवर्षकी तरुण पीढ़ी अपने आध्यात्म और दर्शनको म्यूज़ियमकी आलमारियोंमें बन्द कर, कही जानेवाली फैशनेबल प्रगतिशीलताके अन्धड़में बेइख्तियार उड़ी जा रही है। हमारे ज्ञान और साहित्यकी सारी प्रवृत्तियाँ एकान्त रूपसे भौतिकवादसे शासित दिखाई पड़ रही हैं। आये दिन हम हर नौजवानको जीवनकी आवश्यकताओंको मात्र भौतिक मूल्योंसे परखते हुए देखते हैं। सेप्टिक (Sceptic) और रेडीकल (Radical) होना उन्नतिका लक्षण माना जाता है। हमारे राष्ट्रका सारा तारुण्य इस कथित प्रगतिशीलता और उन्नतिके तूफानमें उसी नाशकी ओर बढ़ा जा रहा है, जिसके सम्मुख उत्कर्षपर पहुँची हुई पश्चिमकी भौतिकवादी संस्कृतियाँ लड़खड़ा रही हैं। 'साइन्टिफिक,' 'सोशलिस्ट' और 'इन्टेलेक्चुअल' होना हमारे नौजवानोंके लिए फैशन हो गया है।

हम अपने सारे प्रेम, श्रद्धा और विश्वासको खोकर एकान्त रूपसे बुद्धिवादी हो जानेको उद्यत हैं। बुद्धि एक सीमिति इन्द्रिय (Faculty) मात्र है और उसको अन्तिम मान लेनेके कारण ज्ञान सीमित होकर विज्ञान बन गया, जिसने अनेक मतवादों और 'इज़्मों'को जन्म दिया। ज़मानेकी सारी 'ईज़्म-परस्ती' के खुराफ़ातोंके लिए एकान्त बुद्धिवादिता और भौतिक विज्ञान ही पूर्णतः ज़िम्मेवार हैं। बुद्धिवाद और भौतिक विज्ञान प्रेम और आत्मैक्यके शत्रु हैं—क्योंकि बुद्धिवाद और विज्ञानने आत्माको इनकार करके जगतको भूतवादी बनाया। भौतिकवादिताने अहिंसाका ह्रास किया, और इस तरह जगतमें अप्रेम और हिंसाका प्रचार हुआ। इसी अप्रेमने मानवीय-आत्मीयतापर आघात पहुँचाकर विश्व-प्रेम और विश्व-बन्धुत्वमें अश्रद्धा पैदा कर दी। इसी

अश्रद्धाने राष्ट्रीयताकी स्पिरिटको जन्म दिया—जिसका विस्फोट महायुद्धमें हुआ। महायुद्धको व्यापक और नाशोन्मत्त बनानेमें विज्ञानका बहुत बड़ा सहयोग रहा है। सन् १९१४ के इस भीषण नरमेधमें मानवीय प्रेम और विश्व-बन्धुत्व मनुष्यके खूनकी नदियोंमें डूब गया—और तीव्र शत्रुतासे भरी राष्ट्रीय भावनाका जन्म हुआ, जिसने महायुद्धके बाद एक निश्चित देह-आकार, और परिभाषा पाकर एक सुनिर्दिष्ट जीवित 'इज़्म'का रूप ले लिया, जिसे हम नेशनालिज़्मके नामसे पुकारते है। जड़ भौगोलिक सीमाओंने मानवीय प्रेमको भी सीमित कर दिया। मनुष्यके लिए मनुष्यका प्रेम अब मानवीय आत्मीयताके धार्मिक नातेसे न होकर केवल मिट्टीसे पैदा हुई राष्ट्रीयताकी सीमाके नाते ही रह गया था। इसी राष्ट्रीयताने अपने ऐतिहासिक विकासमें आगे जाकर समाजवाद पैदा किया और युगका नवीनतम प्रवर्तमान 'इज़्म'—फॉसिज़्म समाजवादका ही यौक्तिक निष्कर्ष है।

इस प्रकार राष्ट्रीयतासे लगाकर फांसिज़्म तकके सारे रक्त-रञ्जित इतिहासके लिए ज़िम्मेवार है युगकी बढ़ती हुई वैज्ञानिकता और भौतिकवादिता। जब हम देखते हैं कि सांमने जल रहे सत्योंसे अपनेको अँधेरेमें रखकर, हमारी तरुण पीढ़ी प्रगतिशील, बौद्धिक और वैज्ञानिक होनेके उन्मादमें योरप के पिछले वर्षोंके उस सारे तर्क-शृंखलाबद्ध खूनी इतिहासको भारतवर्षकी छातीपर दुहरानेके लिए पागल हो उठी है, तो सचमुच आत्मा क्षुब्ध हो उठता है।

विज्ञान, विशिष्टका विशेष ज्ञान है; उससे हमें एकके बाद एक वस्तु के अनेक गुण-पर्यायोंका क्रमिक ज्ञान मिलता है—तब एक थियरीको मिटा कर दूसरी बनानी पड़ती है। पर पदार्थोंके गुण-पर्यायों और धर्मोंका अन्त नहीं। वे अनन्त रूप-गुण, धर्म-पर्यायोमें वर्तमान हैं और क्षण-क्षण परिवर्तनशील हैं। आजका विज्ञान जड़त्वके इन्हीं अशेष रूप-गुण और पर्यायोंके चमत्कारोंमें चुंधिया गया है। भौतिक विद्या के इस महामाया इन्द्रजालने

समूचे विश्वकी आत्मापर भौतिकवाद एकान्त प्रभुत्व स्थापित कर दिया है। जड़-चेतनके संघर्षमें यह चेतनपर जड़की घातक विजय है। इसलिए हम दिनोदिन शरीरके अधिकाधिक गुलाम होते जा रहे हैं। व्यक्ति मिटकर इस जड़ जीवन-चक्रकी विराट मशीनका पुर्ज़ा हो गया है। व्यक्ति-व्यक्तिके बीचके मानवीय प्रेम और आत्मीयताके सम्बन्ध दिन प्रतिदिन ह्रस्व होते जा रहे हैं। हम जड़ मशीनोंकी मार्फत एक दूसरेसे सम्बन्धित हैं। जड़-तत्व इन मशीनोंमें विराट शक्ति संचय कर, मूर्तिमान राक्षस बना, हमारी मनुष्यतापर मृत्युकी तरह हावी है। हम मनुष्य उसके सामने क्षुद्र, पंगु, अक्रिय और शक्तिहीन दिखाई पड़ते हैं। यह है चेतन पर जड़के प्रभुत्वका प्रत्यक्ष प्रमाण। विज्ञानने मशीनोंमें मौतको मूर्तिमान कर मनुष्य-मनुष्यके बीच आतंक स्थापित कर दिया है। और सम्भवतः विज्ञानका चूडान्त उत्कर्ष वह क़यामतका दिन होगा, जब मनुष्योंके व्यक्तिगत भौतिक स्वार्थ इतने भयङ्कर हो जायेंगे कि एक मनुष्य दूसरे मनुष्यकी मौत बन जायगा। हम पल-पल अविश्वास, हिंसा और खतरेकी ज़िन्दगी जियेंगे। हमारी सांस लेनेकी हवा, हमारी स्थितिके आधार पृथ्वी और आकाशमें सर्वत्र मृत्यु व्याप्त हो जायगी, हम मृत्युके मुखमें जियेंगे! क्या आजका यूरप मानव-जातिकी उसी प्रयलयंकर ट्रेजेडीकी भूमिका नहीं बना हुआ है? क्या धर्म-शास्त्रोंकी युगान्त-प्रलयकी कल्पना विज्ञानके चरमोत्कर्षके रूपमें प्रतिफलित होकर ही सत्य होगी? आध्यात्म-दर्शनकी बोध-जनित भविष्य धारणाको क्रियात्मक रूपसे सम्पन्न करनेके लिए ही क्या जगत्में विज्ञानकी अवतारणा हुई है? इस तरहके प्रश्न शायद कल्याणकारी नहीं जान पड़ते; वे हमारे ज्ञानको भ्रमित और कुण्ठित कर हमें अकर्मण्य बना देंगे।

हम तो इस अतिभौतिकवादी वैज्ञानिक संघर्षके युगके सम्मुख खड़े होकर इसके बीचसे मानव जातिके कल्याणका मार्ग खोजना चाहते हैं। भूतवाद-जनित इस हिंसक दानवको पराजित करनेके लिए किसी अमर,

दिव्य, अमोघ शक्तिकी हमें आवश्यकता है। हिंसासे त्रस्त-पीड़ित और वासना-तृष्णासे आर्त-जर्जर मानव जाति त्राण चाहती है। उसे शान्तिके अमृतकी ज़रूरत है। संस्कृतिके शिखर परसे हिंसाके ज्वालामुखी फूट रहे हैं। समस्त दिग्दिगन्तका वातावरण हाहाकार और चीत्कारोंसे त्रस्त एवं व्याकुल है।

पर कल्याणका मार्ग हमसे बाहरके ज्ञान-विज्ञान, संघर्षो और बौद्धिक योजनाओंमें नहीं है—वह हमारे भीतरसे है—हमारी आत्मामें होकर है। एक बार तो यह एकान्त वस्तु-प्रधान दृष्टिकोण और बौद्धिक दुराग्रह त्याग कर हम बाहरसे आँखें बन्द कर अपने भीतर झांके और अपनी अन्तरात्मा की आवाज़ोंको सुनें। हमें सुनाई पड़ेगा—'हम जीना चाहते हैं—हम शांति चाहते हैं—सुख चाहते हैं।' प्रत्येक प्राणी जीवनके पल-पलमें जीनेके लिये चेष्टाशील है और मृत्युसे भयभीत है। जीवन मात्रकी प्रकृत चेष्टा सुखकी खोज है—सही तरीक़ेसे या ग़लत तरीक़ेसे। सुखकी खोजके दो मार्ग हो सकते हैं। एक बाहरके जड़ जगतमेंसे और दूसरा भीतरकी आत्मामेंसे, जिसका स्वभाव ही अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख और अनन्त सद्भाव है। अभावसे पीड़ित, अज्ञानसे आच्छन्न, हमारी आंशिक ऐन्द्रिक ज्ञान-शक्ति बुद्धिके द्वारा हमारी बाहरसे सुख खोजनेकी प्रवृत्तिका परिणाम ही है यह विज्ञान। पर आज जब हम प्रत्यक्ष देख रहे हैं कि सुख खोजनेका यह वाह्य तरीक़ा हमें मृत्युके मुखकी ओर ही ढकेल रहा है, जिससे बचनेकी प्रत्येक प्राणीकी निसर्ग चेष्टा है, तो फिर क्यों न हम इस मार्गसे लौटकर भीतरसे मार्ग खोजें। भीतरकी आवाज़ोंकी सचाईको अनुभव कर, अपने स्वभाव और अपनी आत्माकी मांगसे विश्वको नापें, विश्वके साथ व्यवहार करें। हम दुख और मृत्युसे बचना चाहते हैं। यही हमारी क्षण-क्षणकी आत्म-चेतना है; तो हम जगतकी चेतनाको भी अनुभव करें। जगतके साथ भी वही व्यवहार करें; अपनी भौतिक इच्छा-वासनाओं और स्वार्थोंकी पूर्तिके लिए दूसरोंको

मृत्यु और दुख न दें। इसीको कहते हैं आत्माके नैसर्गिक धर्मकी स्थापना, प्राणिमात्रके जन्मसिद्ध अधिकारोंकी स्वाभाविक स्वत्व रक्षा। यह है प्रकृत साम्य-धर्म जो राजनीति और अर्थ-संघर्षके सारे खतरों और सीमाओंसे मुक्त है, जो राष्ट्रीय नहीं सार्वभौमिक है। इसे कहते हैं आत्माका साम्यवाद, जिसको आध्यात्मवादी भारतने आजसे कई हज़ार वर्ष पहले दिग-दिगन्तमें गुंजित किया था—"आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्"—जो-जो क्रियाएँ, चेष्टाएँ अपने स्वयंके प्रतिकूल हैं—वे औरोंके प्रति भी न की जावें। आजके युगमें इस अखण्ड आत्मिक साम्यवादका सबसे बड़ा मसीहा गांधी भारतवर्षके हृदय-सिंहासन पर आसीन है। संसारमें जब-जब भी हिंसा, संघर्ष और अशान्तिसे मानव जाति आक्रान्त हुई, तब-तब विभिन्न देशोंकी उस यन्त्रणा-ग्रसित मानवताकी आत्माने एक विशिष्ट ज्योतिके रूपमें ऊपर उठकर जन्म धारण किया और मृत्युग्रस्त मानव-जातिको प्रेम और शांतिका अमृत दान किया। विभिन्न युगों और देशोंमें पैदा हुई यही अमर ज्योतियाँ कृष्ण, गौतम, महावीर, ईसा, मुहम्मद और गांधीके रूपमें विश्व-हृदय पर आसीन हैं। हमारे युगके ज्योतिर्धर गांधीको तो हमने प्रत्यक्ष अपनी आँखों आगे दक्षिण अफ्रिकामें पीड़ित मानवताकी यन्त्रणाओंमें से एक ऊर्जस्व प्रकाशके रूपमें प्रकट होते देखा है। इसलिये गांधी तो इस प्रकारकी प्रक्रिया-जनित आध्यात्मिक शक्तिके ज्वलन्त वैज्ञानिक फिनॉमेनॉनके रूपमें हमारे सामने आते हैं, जिसे बड़े से बड़ा बुद्धिवाद और विज्ञान अपनी सारी कसौटियोंपर कसकर भी इनकार नहीं कर सकता।

बुद्धि, विज्ञान, थियरी, अर्थ-शास्त्रके आँकड़ों और आर्थिक योजनाओंसे स्थापित किया जानेवाला संकुचित, कृत्रिम साम्यवाद, सच्चा और स्थायी साम्यवाद नहीं है; वह तो मात्र एक बौद्धिक गोरख धन्धा है। इसी तरह सत्यकी खोजका सच्चा मार्ग भी निरा विज्ञान नहीं है। सत्यकी उपलब्धिका मार्ग अहिंसा और प्रेम है। समस्त विश्वके सत्यको उप-

लब्ध करने और उससे साक्षात्कार करनेके लिए जो हममें यह ज्ञान-तृष्णा है, वह एकान्त बुद्धिजीवी विज्ञानसे नहीं मिट सकती। निखिल जगत्को प्रेम करके—उसके साथ अहिंसाका निर्मल, वीतराग, शुद्ध योग स्थापित करके ही हम अखण्ड विश्वके सूक्ष्मतम अणु-परिमाणुओंसे क्षण-क्षणकी आत्मीयता स्थापित कर सकते हैं। सत्यकी उपलब्धि भोग (हिंसा) से नहीं प्रेम (अहिंसा) से होती है। आत्माके निसर्ग धर्म अहिंसा और प्रेममें ही विश्व-शान्ति, विश्व-प्रेम और साम्यवाद प्रस्थापित करनेकी अमोघ शक्ति है। बुद्धि से विज्ञान—अर्थात् विशिष्टका विशेष ज्ञान पैदा होता है। हम विशिष्टमें मोह-आग्रह पूर्वक लिप्त होते हैं। तब हमारा ज्ञान सीमित हो जाता है—हम पूर्ण बोध नहीं पाते; हम वस्तुका आत्म-साक्षात्कार नहीं करते, मात्र वस्तु का शारीरिक व्यवच्छेदन (Operation) करके उसकी प्राण-हानि करते हैं—अर्थात् सत्यको पानेकी कोशिशमें ही हम सत्यको आघात पहुँचाते हैं, उसे क्षत-विक्षत और विश्लेषित करते हैं। फिर सत्यको पाएं कहाँ से, मात्र मांस-मिट्टी और खून हमारे पल्ले पड़ता है। विज्ञानमें हम वस्तुको प्रेम नहीं करते, विश्लेषण द्वारा उसमें उलझते हैं, उसके बौद्धिक भोगमें मोह-आग्रह पूर्वक अभिभूत होते हैं। ऐसी अवस्थामें हम सत्यको उपलब्ध नहीं कर करते, केवल उसकी शारीरिक क्रियाका ज्ञान प्राप्त कर, उस क्रियाका भौतिक उपयोग और भोग करके संतुष्ट होना चाहते हैं। पर वह भोग हमारी वासना-तृष्णाको और भी अधिक प्रज्वलित करता है। वह किसी भी तरह हमारी आत्माकी चिरन्तन ज्ञान तृष्णाको शान्त नहीं कर सकता। वस्तुका एक विशिष्ट अंग, गुण-धर्म अथवा पर्याय जानकर जब हम उसके भोगमें लिप्त हो जाते हैं, तब वस्तुका सम्पूर्ण सत्य सदा हमसे अँधेरेमें रह जाता है। विज्ञानमें हमारा उद्देश्य सत्यका विशुद्ध ज्ञान नहीं, भोग है। इसीलिए विज्ञान भरमाता है, चक्कर देता है, सत्यकी माया-मरीचिकामें हमें उलझाए रखता है।

हम प्रकाशकी खोजमें चले थे और मानव-जीवनकी सारी वर्तमान

प्रवृत्तियों और संघर्षोंका पर्यवेक्षण करनेके बाद हम इस निष्कर्षपर पहुँचे हैं कि केवल बुद्धि द्वारा, केवल विचार-तर्क करके और थियरीज़ रचकर, फिलॉसफी पढ़कर और ट्रिटाइज़ लिखकर हम जीवन और विचारोंके संघर्षों को नहीं मिटा सकते, न बुद्धिके तर्क-वितर्कोंसे प्रचलित मतवादोंका अन्त कर सकते हैं, और न बुद्धिके द्वारा विश्व-शान्ति और साम्यवादकी स्थापना हो सकती है। सारे दुराग्रह त्यागकर एकान्त निष्ठा और श्रद्धा-पूर्वक सत्यकी खोजको अपना आदर्श लक्ष्य बनाकर, प्रेमको जीवनके पल-पलका आचरण-व्यवहारधर्म बनाकर ही ये सारे संघर्ष मिटाए जा सकते हैं। बुद्धिके द्वारा कोरे विचारोंकी रगड़में समाधान नहीं है। आत्माका स्वभाव-स्वरूप, प्रकृत धर्म अहिंसा ही आत्मा-आत्माके बीचका निर्मल बन्धन बन कर जगत्में शान्ति, साम्य, कल्याण और मङ्गलकी स्थापना कर सकता है।

रोमांस और प्रगति

इधर साहित्यमें जहाँ एक ओर रोमांसके विरोधकी एक रीतिसी चल पड़ी है, वहाँ दूसरी ओर अपनेको प्रगतिशील साबित करनेके लिए यथार्थवादी कहनेका भी एक चलन सा हो गया है। इस वृत्तिके पीछे रूढ़ता अधिक और स्वतन्त्र विचार-बुद्धि कम दीखती है। आदर्श और यथार्थको वाद बनानेका आग्रह ही इस संघर्षके लिए ज़िम्मेवार है। आइए, उस बिन्दुको पकड़ें जहाँसे सम्भवतः इस भ्रामक विभाजनका आरम्भ होता है।

सत्यके अभिव्यक्तिशील रूपको ही हम सृष्टि कहते हैं। जड़ और चेतन के भेद-विज्ञान और उनके प्रथम सम्बन्धकी रहस्य-वार्ताको बुद्धि द्वारा आँकने की चेष्टा यदि हम करेंगे तो शायद हम भी कोई नया भ्रम या अज्ञान ही उत्पन्न करेंगे। भाव-संवेदन-जनित रहस्यवादमें हो कि बुद्धि द्वारा उपलब्ध दर्शन-धाराओंमें हो, अथवा विज्ञानमें हो, जड़-चेतनके प्रथम सम्पर्क यानी

जीवनकी व्यक्त चेष्टाके आरम्भको सभीने अनादिकालीन स्वीकार किया है। सत्यको सभीने अनन्त, निर्विकल्प और निगूढ़ माना है।

विज्ञान, जो सतत प्रगतिशीलतामें विश्वास करता है और किसी भी सिद्धान्त या थियरीकी क़ैद स्वीकार नहीं करता—उसने भी औसत लोक-जनताकी विचार दृष्टिको जाने-बेजाने रूढ़ अवश्य बनाया है। अस्तित्वकी क्रिया, प्रतिक्रिया, प्रक्रिया और परिणामोंके प्रत्यक्ष आधारों पर सत्यको निर्धारित करनेका जो भौतिक सिद्धान्त विज्ञानने बनाया और हमारे चर्म-चक्षु और मेधाको ही अन्तिम निर्णायक मानकर सत्यका विधान किया, उसमें परोक्ष या सूक्ष्मका सम्पूर्ण आकलन सम्भव ही न था। और इसीलिए हमारी तर्कवृत्ति सहज ही नकारात्मक हो गई। पदार्थोंके प्रत्यक्ष क्रिया-कलापों पर ही हमने सारे परिणामोंको ठहरा दिया। आत्म-बोध, रहस्य-बोध, व्यक्त जगतके व्यापार-व्यंजनामें दिव्य, अलौकिक तथा परमानन्दमयकी प्रतीति, अनुभूति या दर्शन मनुष्यको अप्रामाणिक जान पड़ने लगे। विज्ञानकी इसी लोक-वृत्तिगत रूढ़ता ने विज्ञान और धर्म अथवा विज्ञान और रहस्यवादमें विरोध उत्पन्न किया। परन्तु जो सच्ची आत्म-प्रेरणासे सत्यकी खोजमें उन्मुख थे, वे ईमानदार वैज्ञानिक, सच्चे रहस्यवादी तथा लोकोत्तरकी साधनामें संलग्न खरे धर्मात्माजन एक ही भूमिपर रहे। उनमें परस्पर कोई विरोधकी बाधा हमें नहीं दिखाई पड़ती।

आजकी वैज्ञानिक दुनियाके ऋषि-कल्प साधक तथा प्रखर सत्य-शोधक आइन्स्टीन महोदयने अपनी पुस्तक "World as I see it" में, भावना द्वारा सत्यकी रहस्यानुभूतिके सम्बन्धमें अपना मन्तव्य व्यक्त करते हुए लिखा है—"वह सुन्दरतम वस्तु, जिसका कि हम अनुभव मात्र कर सकते हैं, वह रहस्यमय है। वह तो वह मौलिक भावानुभूति (emotion) है, जो सच्ची कला और सच्चे विज्ञानके पालनेमें झूल रही है। जो उसे नहीं जानता और विस्मित-विमुग्ध नहीं हो सकता, वह मृत है, वह एक बुझी हुई मोम-बत्तीकी तरह है। वह रहस्यकी अनुभूति ही थी, फिर चाहे वह भयसे मिश्रित

ही क्यों न रही हो, जिसने धर्मको निष्पन्न किया। किसी ऐसे पदार्थके अस्तित्वका ज्ञान, जिसे हम भेद नहीं सकते, तथा उस समृद्धतम विवेक और उस परम दीप्त सौन्दर्यकी व्यंजनाओंका ज्ञान, जिनका कि हमारी बुद्धि बहुत उथलासा ज्ञान भर पा सकती है—वही है वह ज्ञान और अनुभूति जो सच्ची धार्मिक दृष्टिका निर्माण करती है। इस मानेमें और केवल इसी माने में मैं एक गहरा धर्मात्मा व्यक्ति हूँ। मेरे लिए तो जीवनकी अनन्तताका रहस्य ही पर्याप्त है...” इत्यादि।

यह उस प्रचण्ड प्रत्यक्षवादी वैज्ञानिकका मन्तव्य है, जिसने तमाम पदार्थ-जगत और तत्व-जगतकी सत्ता और उसकी गति-विधियोंको, शुद्धतम विज्ञान गणितके आँकड़ों और रेखाओंसे नापकर परिभाषित कर डाला है। पर जीवनकी अनन्तताके इस मर्म पर भी कोई आँकड़ा या बिन्दु लगाकर उसपर अपना चक्रवर्तित्व घोषित करनेकी स्पर्धा आइन्स्टीनने नहीं की। उस रहस्यके अमाप द्वारपर वह भय और आदरसे नत है। उस अप-रिमेय और अतर्क्य सौन्दर्यके प्रति, एक विह्वल जिज्ञासासे नम्रीभूत होकर उस सत्य-शोधकने मानो आत्म-समर्पण कर दिया है। यही वह बिन्दु है, जहाँ आकर वैज्ञानिक, धार्मिक, रहस्ययोगी मर्मी और सौन्दर्यके स्वप्न-द्रष्टा रोमांटिक कविका मिलन सम्भव होता है।

इसी चिरन्तन प्रगतिशील जीवनकी अनन्तता और प्रवहमानताको, इसी अज्ञेय तत्वको अनेक नामोंसे पुकारा और चीन्हा गया है। किसीने उसे आत्म-तत्व कहा, किसीने परमात्म-तत्व कहा, किसीने जीवनी-शक्ति कहा, किसीने क्षण-क्षण गुणात्मक परिवर्तनसे उद्भूत जीवन-तत्व कहा। ये भेद तो अनुभूति, बोध और दर्शनके अलग-अलग मार्गोंके कारण हैं। फिर कौन है जो उस सत्यके प्रति आस्थावान नहीं है—सश्रद्ध नहीं है? फिर कौन है जो नास्तिक होकर जिज्ञासु और प्रगतिशील हो सकता है? तब तो नास्तिक और आस्तिकका भेद भी बहुत स्थूल ठहर जाता है। कोई खण्ड-

खण्डके प्रति तत्काल श्रद्धावान होकर सतत प्रगतिका विश्वासी है, तो कोई खण्ड-खण्डमें क्षण-क्षण व्यक्त अखण्ड, सम्पूर्णकी परोक्ष सत्ताकी प्रतीतिकी ओर उन्मुख है और खण्ड-खण्डको उसीके प्रकाशमें देखना, समझना और सुसंवादी बनाना चाहता है। या कहिए कि वह सबको एक विराट चेतना और अनुभूतिके द्वारा एकबारगी ही अपने भीतर उपलब्ध कर लेना चाहता है। दोनोंमें जो स्थूल भेद सम्भव है, वह अभिव्यक्तिके कारण है— या कह लीजिए एकान्त सैद्धान्तिक प्रस्थापनाके कारण है। इनमेंसे पहला पक्ष अपनेको प्रगतिवादी या यथार्थवादी कह कर सार्थक करना चाहता है तो दूसरा पक्ष अपनेको आदर्शवादी कहनेका आग्रही है।

इस पिछली आदर्शवादी परम्परामें ही सर्जनाकी रोमांटिक वृत्तिको प्रश्रय मिलता है। देश-कालकी सीमाओंसे बाधित और खण्ड-खण्डके संघर्षसे अभिभूत प्रत्यक्ष जीवनके प्रति जो आग्रही हैं, वे इसी संघर्ष, विपर्यय, विरोध और विषमतामेंसे जीवनकी प्रगतिका मार्ग खोज रहे हैं। और इसी कारण इस प्रत्यक्षवादी दर्शनकी नवीतम थियरीका नाम पड़ा है— Dilectics या विरोध-विकासका सिद्धान्त। वे इस वैविध्य, विषमता या विरोधसे लौटकर किसी एकीकरण, पूर्ण सम या केन्द्र पर नहीं आना चाहते।— वे विवर्धन (amplification) और स्थूलीकरणके हामी हैं, साधारणी-करण (simplification) उनका मार्ग नहीं। यानी उनका विकास सूक्ष्म से स्थूलतरकी ओर है। जबकि आदर्शवादी स्थूलसे सूक्ष्मकी ओर, विविधता (diversity) से एकता (Unity) की ओर, विषमसे समकी ओर और विकीरणसे केन्द्रकी ओर लौटना चाहता है। प्रत्यक्षतः दोनोंके रास्ते एक दूसरेसे ठीक उलटे प्रतीत होते हैं। पर अन्ततः क्या दोनों ही अपनी इस यात्रा में किसी एक ही बिन्दुपर आकर नहीं मिल जाते ?

रोमांसमें स्थूलसे सूक्ष्मकी ओर, लौकिक प्रत्यक्षसे अलौकिक परोक्षकी ओर, बाधित-सीमितसे अबाध, निःसीमकी ओर तथा क्षणिक, नाशवान

सौन्दर्यसे शाश्वत, चिरन्तन् सौन्दर्यकी ओर जानेकी एक उत्कट, अजस्र और विकल प्रेरणा काम करती है। जड़ और चेतनके संघर्षकी लीलाभूमि इस सृष्टिमें, जड़की अनेक पर्यायों और आवरण-जालोंमें बन्दी चेतनका जड़के प्रति, सूक्ष्मका स्थूलके प्रति तथा आत्माका शरीरके प्रति जो एक ससंज्ञ, प्रबुद्ध, भाव-संवेदनमय विद्रोह है, वही साहित्यमें रोमांटिक सर्जनाका उद्गम है। इस प्रत्यक्ष परिवर्तनशील पर्याय-आवरण या रूपसे परे, किसी परोक्ष सूक्ष्म सत्ताकी कोई द्रव्यात्मक या तात्विक स्थिति है भी या नहीं ? यह फिर वही आदिकालका विवादग्रस्त प्रश्न है, जिसे हम आज यह पूछ कर दुहराते हैं—क्या जड़ और चेतनका यह विभाजन (Bifurcation) एक तथ्य, वैज्ञानिक सत्य हो सकता है ? इसके लिए वैज्ञानिक आइन्स्टीन का वह पहले उद्धृत किया गया वक्तव्य ही एक पर्याप्त उत्तर हो सकता है। रेखा-गणितका बिन्दु, भौतिक विज्ञानकी Energy और उससे भी सूक्ष्मतर अन्य नवीनतम परिकल्पनाएँ और विज्ञानकी मान्यताएँ (Hypothesis) उस रहस्यके द्वार पर प्रश्न-चिन्हसे स्थिर खड़े रह गए हैं।

जो वस्तुवादी वैज्ञानिक और चिन्तक, रोमान्टिक द्रष्टाकी अखण्ड, चिरन्तन, सूक्ष्म और अनन्तकी ओर उन्मुख वृत्तियों और व्यंजनाओंको एक मिथ्यात्वके वायव्य शून्यमें भटकना कहकर उसकी भर्त्सना करते हैं, वे भूल जाते हैं कि ऐसा करके वे मूलतः अनन्त प्रगति और जीवनकी अपनी अनन्तताके विश्वासको ही आघात पहुँचाते हैं। क्योंकि यदि सब उन्हें ज्ञात है और सब बुद्धि-गोचर है, तो जीवन और प्रगति सीमित हो जाते हैं। तब वे एक स्थिर पुनरावर्तनका रूप ले लेते हैं। उसके बाद अनन्त जीवन, विकास और प्रगतिका कोई अर्थ ही नहीं रह जाता। और यदि वह जीवन-तत्व अनन्त है तो अज्ञात भी है, और उस अज्ञातके बारेमें कोई निश्चयात्मक बौद्धिक या वैज्ञानिक नियम-सिद्धान्त रचना सम्भव ही नहीं है। क्योंकि वैसा करके वैज्ञानिकता और प्रगतिशीलता स्वयम्

दूषित हो जाती हैं, अपने मार्गसे च्युत हो जाती है। जिस प्रकार उस आगामी अनन्तके बारेमें वे कोई सिद्धान्त नहीं रच सकते, उसी प्रकार उस विगत अनादि, अनन्त, सूक्ष्म बिन्दुकी सत्ताके बारेमें भी कोई विधायक या नकारात्मक विधान विज्ञानतः वे नहीं कर सकते। तब यह तो उनके अपने ही प्रत्यक्ष, बहिर्मुख दर्शनके मार्गकी बाध्यता हो जाती है। ऐसी स्थितिमें अन्तर्मुख बोध, भावना या संवेदनके मार्गोंसे जो लोग इस प्रकारका सूक्ष्म या स्थूलका, आत्मा और शरीरका संघर्ष अनुभव करते हैं—उनके इस विभाजन या संघर्षको, उनके इस विद्रोह और वेदनाकी अभिव्यक्तिको निरर्थक या मिथ्या कहकर उसके मूल्यसे इनकार कर सकनेकी गुंजाइश एक सच्चे वैज्ञानिक द्रष्टाके लिए विज्ञानतः नहीं रह जाती।

वस्तुवादी संघर्षवाद या आजका एकान्त प्रगतिवाद, इस रोमांसवाद या भावनावाद पर हावी होकर नहीं चल सकता। वे तो दोनों ही समानान्तर मार्ग हैं—एक अन्तर्मुखी है तो दूसरा बहिर्मुखी। क्रिया-प्रतिक्रिया रूप से कभी एक सशक्त तो कभी दूसरा प्रबल हो उठता है।

रोमाण्टिक कवि या स्रष्टामें समग्र स्थूलके विस्तारको एकबारगी ही अपने भीतर उपलब्ध या आत्मसात् कर लेनेका एक विदग्ध उन्मेष और उन्माद सा होता है। नाना रूप, रस, स्पर्श, गन्ध, वर्णमय, चित्र-विचित्र सौन्दर्य-पर्यायों (Forms) और चेष्टाओंमें व्यक्त इस जीवन-जगतसे वह मधुकी तरह सूक्ष्म सौन्दर्य-सार ग्रहण करता चलता है। इस अरूप अनुभूति-संचयके द्वारा वह अपने भीतर एक अपरूप, दिव्य, लोकोत्तर सौन्दर्य-लोक का सृजन करता है, जिसमें मानो इस समस्त स्थूल सृष्टिको पर्यवसान हो जाना है या मोक्ष पा जाना है। इसी प्रक्रियाको हम स्थूलसे सूक्ष्मकी ओर चेतनका विकास कह सकते हैं। यही सूक्ष्मीकरण (Abstraction) और पारदर्शन (Transcendation) की फ़िलॉसफ़ी है।

पर वास्तववादीके ख्यालसे यह एक असम्भाव्य घटना है—यह एक वास्तविक हक़ीक़त (Fact) नहीं है। क्योंकि उसके क्षेत्रका सत्य एक बहुत ही स्थूल, चाक्षुष यानी इन्द्रिय-ग्राह्य वस्तु है। केवल भीतर ही भीतर जो बोध-गम्य अतीन्द्रिय सुख है, उसकी सतत अनुभूति उसके लिए सत्य नहीं है। वह तो उसके लेखे भ्रम है, मिथ्या स्वप्न है या कहिए कि विकृत भावुकता है। उसका कोई यथार्थ (Intrinsic) मूल्य उसकी दृष्टिमें नहीं है। सौन्दर्यके अन्तर्मुख साक्षात्कारके कारण उत्पन्न होनेवाली विभोरता या तन्मयता उसकी रायमें एक डिलीरियम है—एक अप्राकृतिक उन्मादकी अवस्था है। पर रोमाण्टिसिस्टकी मुक्ति-यात्रामें वही एक पहुंचकी मंज़िल है।

रोमांसवादीको उस लोकोत्तर, दिव्य या सूक्ष्मकी अनुभूति इस रक्त-मांसमय स्थूल जीवन-जगतमें होकर ही होती है। ऐन्द्रिक आकर्षण-संवेदनके विषम और संघर्षमय मार्गसे चलकर ही एकरस, सम और अतीन्द्रिय सुखकी प्राप्ति उसे इष्ट है। उड़ चलनेका, ऊपर उठनेका या पार जानेका उसके प्राणका उन्मेष विश्व-सृष्टिके संघर्षोंसे विमुख होकर, पराभूत होकर किसी निर्लक्ष्य, वायव्य शून्यमें खो जाने भरके लिए नहीं है। बल्कि देश-काल और जन्म-मरणके सीमा-बन्धनोंसे ऊपर उठकर अपनी मुक्तात्मामें एक साथ सम्पूर्ण जीवन-जगतको उपलब्ध या आश्लेषित कर लेनेके लिये ही यह अनुरोध है। वह अपनी बन्दिनी चेतनाको समूचे लोक-जगतमें बिखेर कर उसमें अपनेको पर्यवसित कर देना चाहता है। अर्थात् खण्डित-सीमित जीवनसे अखण्ड जीवनकी ओर विकास पानेका यह मार्ग है। इस अर्थमें यह जीवनसे पराजित होकर कायर पलायनका मार्ग नहीं, यह तो जीवनकी परमतम उपलब्धि और प्रतीतिका मार्ग है।

वास्तविक जीवन-वादी और रोमांसवादीमें अन्तर इतना ही है कि रोमांटिसिस्ट इस अभेद्यसे लगनेवाले संघर्षको भेदकर इसपर विजय पाना चाहता है—वह इसपर आरोहण करना चाहता है। संघर्षके बाद निसर्गतः-

आनेवाली सामयिक समको स्थितिसे रोमांटिसिस्टको सन्तोष नहीं, क्योंकि वह सतहपर का सम है। पर जीवनके तात्विक संघर्षोंका कहाँ अन्त है? वस्तुतः जीवनका दूसरा नाम ही संघर्ष है। रोमांटिसिस्ट इस चरम तात्विक संघर्षके नाना अविजानित अन्तर्लोकोंमें भटकता, युद्ध करता हुआ चलता है। वह इस चरम संघर्षका विजेता होनेका संकल्प और भावोन्मेष अपने अन्दर लिए है। सतहपर के स्थूल सामाजिक या लौकिक संघर्षोंकी व्याख्या भी वह इसी तात्विक संघर्षके आधारपर करता है। और इस प्रकार एक भीतरी तात्विक संतुलन और सामंजस्यके रास्ते ही वह लोक-जगतकी दिन-प्रतिदिनकी समस्याओंके लिए अपना हल प्रस्तुत करता है। पर अन्ततः निश्चय ही उसका मार्ग वैयक्तिक साधना और वैयक्तिक मुक्तिका मार्ग है। लोक-जीवन के सामयिक या तात्कालिक मंगलायोजनका स्वप्न-द्रष्टा वह है; पर लोक-समाज या समष्टिकी एकबारगी ही सम्पूर्ण मुक्तिका विश्वासी वह नहीं है। क्योंकि उसके लेखे समष्टिकी ऐसी कोई मुक्ति मौलिक रूपसे ही अकल्पनीय है। इसीसे वह इस समष्टिके सामयिक संतुलन और मंगलायोजनमें ही अपनी व्यक्तिसत्ताका मोक्ष मानकर सन्तुष्ट नहीं हो सकता। वह तो व्यष्टिके अन्तर्मुख विराटीकरण द्वारा ही समग्र समष्टिका पूर्ण बोध या आलिंगन पानेका आग्रही है। वह आत्म-संग्रहमेंसे लोक-संग्रह चाहता है।

रोमांटिसिस्टकी प्रगति ऊर्ध्वगामिनी है। वह वस्तु-सौन्दर्यके जगतसे एक अन्तर्योगकी साधना करता है। और उसी रास्ते तात्विक संघर्षके चक्रों को भेदता हुआ वह एक 'इथीरियल' (वायवीय) या 'स्पिरीचुअल' (आत्मिक) यात्रा करता चलता है। और इसी दृष्टिसे प्राथमिक साधनके रूपमें समाजवादी होकर भी वह अन्ततः अनार्किस्ट है।

इसी कारण प्रायः साहित्य या काव्यमें, जब-जब रोमांस-वादियोंने संघर्षकी व्याख्या की है, तो तात्कालिक स्थूल-समाज या लोक-जीवनके संघर्षोंकी व्याख्या न करते हुए, उन्होंने सदा मानव-जीवनके मूलभूत विकारों

और सृष्टिके तात्विक संघर्षोंकी ही व्याख्या की है। और चूँकि यह संघर्ष अन्तःप्रवाही और सूक्ष्म होता है, इसलिए काव्यमें उसे अभिव्यक्ति प्रदान करने के लिए अक्सर इन रोमांटिसिस्टोंने रूपकों, प्रतीक-कथाओं, मिस्टिक और अलौकिक चरित्रों तथा संकेत-योजनाओंका सहारा लिया है। क्लासिक्स कहे जानेवाले साहित्यके वे अमृत-कलश, जो काल-कालान्तर और देश-देशान्तरमें सदा नवीन रहकर, हर समयके जीवनको अमरत्व और ज्योतिका दान करते आए हैं—उनकी रचनाका आधार यही जीवनके अन्तःप्रवाही मौलिक संघर्षोंकी व्याख्या रही है। और इसी कारण प्रायः उनकी व्यंजना प्रतीकात्मक कला-विधानोंमें हुई है। यही है वह रोमांटिक सर्जनाका वतायन जहाँसे संसारके श्रेष्ठतम सर्जकों, परम सौन्दर्यकी एंजिलों और स्वप्न-द्रष्टाओंने जीवन और जगतका अन्तर्दर्शन किया है। इसी सतहपर होमरके 'ईलियड', मिल्टनके 'पेरेडाइज़ लॉस्ट', दान्तेकी 'डिवाइन कॅमेडी,' गटेका 'फॉस्ट', कालिदासका 'शाकुन्तल' और 'कुमार संभव', हाफ़िज़ और खय्यामकी मस्त रुबाइएं, कबीर, मीरा और सूरके मर्य्यादा उल्लंघनके दावेदार विद्रोही प्रेमके गान, रवीन्द्रका सम्पूर्ण काव्य, ग़ालिब और इक़बालकी समझमें न आनेवाली शायरी और—जयशंकरकी 'कामयिनी' जैसी साहित्यकी अमर ज्योतियाँ जन्मी हैं।

काव्य-सर्जनाके अब तकके विगत इतिहासपर अगर हम दृष्टि डालें तो एक बात और भी देखनेको मिलती है। संसारकी श्रेष्ठतम और महानतम काव्य-कृतियोंका आधार प्रायः धर्म-शास्त्र, पुराण या 'लीजेण्ड्स' (दन्तकथाएँ) ही रही हैं। ऊपर जिन सृष्टाओं और कृतियोंका ज़िक्र किया गया है उन सबकी आधार-भूमि प्रायः धर्म-शास्त्र, पुराण या दंतकथाएँ ही रही हैं। रामायण, महाभारत और भागवतका धार्मिक महत्व ही अधिक है; पर साथ ही अब तक निर्विवाद रूपसे वे हमारे देशके साहित्यके उच्चतम शिखर माने जाते रहे हैं; और विगत अनेक युगोंमें वे हमारी सृजन-प्रेरणाके अमर स्रोत

और आदर्श रहे हैं। मेरा अपना तो यहाँ तक ख्याल है कि भागवत संसारका श्रेष्ठतम रोमाण्टिक काव्य है और उसकी रासलीला समीचीनतम प्रेमकाव्य !

संस्कृतके समूचे काव्य-साहित्यकी पृष्ठभूमि यही महान पौराणिक कृतियाँ रही हैं। संस्कृत ही क्यों दुनियाके सारे प्राचीनतर साहित्यकी मूल भूमिका वही रही है। और आजके नवीनतम रोमांटिसिस्ट और आदर्श-लक्ष्यी कवि रवीन्द्र, इक़बाल और प्रसादका भी चिन्तनालोक वही है। इस चीज़के मूलमें वही विश्वका आदर्शवादी दर्शन और आकलन है, जो बहिर्जगतके संघर्षोंकी व्याख्या अन्तर्जगत्के मौलिक, तात्विक संघर्षके रूपमें करता है। सभी देशों और कालोंमें इसी मूल प्रवृतिके अनुरोधसे पारदृष्टा कवियोंने इसी अनाविल सतहपर खड़े होकर परिस्थिति-भेदी और ऊर्ध्वगामी काव्य-सर्जनाकी है, जो विशिष्ट देशकालकी स्थूल मूर्तिमत्ता और परिधिसे मुक्त होनेके कारण, हर काल और हर देशके अनुरूप अर्थ-दानकर, सदासे अपना प्रकाश बिखेरती आई है।

जब रोमांटिसिस्ट अपने युगको आश्लेषित कर उसे संदेश देता है, तब वह उसे परिस्थिति-जन्य क्रिया-प्रतिक्रियाके दुर्वृत्तमें से बाहर खींचकर एक सुन्दर, संतुलनकी भूमिपर ला छोड़नेका आग्रही होता है। तात्कालिक जीवनकी वस्तु-स्थिति और वातावरणको स्वीकारकरके भी, वह अपने भीतरसे आदर्शकी कुछ ऐसी प्रवाही तेज मूर्तियाँ ढालता है, जो नवीन-जीवन-रचनाके सपनोंको अपने आपही उत्स्फूर्त करती चलती हैं। वे मूर्तियाँ केवल उस खण्ड-खण्ड पारिस्थितिक संघर्षकी प्रतिक्रियाका परिणाम नहीं होती हैं। बल्कि बाहरके पारिस्थितिक संघर्षका आघात जब चरम सीमापर पहुँचकर मर्मको घायल कर देता है, तब चेतनामें आत्माके परम पुरुषार्थका एक उन्मेष अनायास जाग उठता है। इसी उन्मेषमें से वह तेज नितरता है, जो तत्कालीन जीवनकी मिट्टीमें मूर्त होकर, सर्जनामें देवदूतोंकी सृष्टि करता है। प्रकाशके ये पुत्र और पुत्रियाँ परिस्थितियोंके चक्रव्यूहोंको तोड़ते हुए

अपने परम लक्ष्यकी ओर बेरोक बढ़ते जानेका अमोघ बल, प्रेरणा और प्रगति-शक्ति हमें सतत प्रदान करती हैं। और इसी मानेमें रोमांटिसिस्ट अपने युगका और आगामी कलका स्वप्न-द्रष्टा होता है। परिस्थितियोंके पार देखनेकी वस्तु-भेदिनी दृष्टि और ऊर्ध्वगामी वृत्तिके कारण ही वह एक एंजिलकी तरह अपने युगका और भावीका विधान करता है। वह विगतको' प्रतिक्रिया-जनित जड़ताको छिन्नकर चैतन्यके प्रवाहको अभंग रखनेका दावेदार होता है। हमारे युगके प्रकाश-द्रष्टा कवि सुमित्रानन्द पंतने अपने 'गुंजन' और 'युगवाणी' में चैतन्यके उसी सनातन प्रवाहका सन्देश दिया है। अबसे पच्चीस वर्ष पूर्व हमारे इसी देवकुमार कविने नवीन युगका द्वार मुक्त किया था। और पिछले दस वर्षोंके उत्कटतर वस्तुवादी संघर्षसे युद्ध करता हुआ हमारा यह अमृत-पुत्र कवि फिरसे संतुलनकी स्वर्ण कुंजी लेकर मानव इतिहासके एक महत्तर नवीन युगका तोरण-द्वार मुक्त करने जा रहा है। अपने तवीनतम काव्य-संग्रह 'स्वर्ण आतप' और 'स्वर्ण रज' में कवि पंतने फिरसे एक बार आत्मा के एेश्वर्य और सौन्दर्यको जीवनके रक्त-मांसमय मूर्त रूपमें आलोकित कर आत्मा और शरीरके सामंजस्यका एक अद्भुत संदेश दिया है।

अपने युगके एकान्त वस्तुवादी विज्ञानके प्रति विद्रोह करके रूसोने बाहरकी वास्तविक कठोरता, विषमता और कुरूपता पर आत्मिक सौन्दय और समता द्वारा विजय पाकर, पूर्ण सौन्दर्य, पूर्ण स्वातन्त्र्य, पूर्ण मानवता और समीचीन समताका सपना देखा था। उसके इस स्वप्नने नवीन आत्म-प्रकाशकी जो धाराएँ प्रवाहित की, उन्होंने तमाम यूरपकी आत्मामें एक उथल-पुथल पैदा कर दी और अपने युगके ख्यालकी धरती बदल दी। उसी स्वप्नने फ्रेंच क्रांति जैसी महान घटनाको जन्म दिया।

यह सच है कि रोमांटिसिस्टके वे पूर्ण आदर्श या परम सुन्दरके सपने जीवनमें पूरे नहीं उतरते; पर यह रोमांस की विफलता नहीं कही जा सकती। क्योंकि रोमांटिसिस्टने कभी समष्टि रूपसे या अन्तिम रूपसे जगतको संघर्ष

से मुक्त करनेका इक़रार नहीं किया। वह समष्टिकी नहीं, व्यष्टिकी पूर्णतामें विश्वास करता है। यानी यष्टि जो इकाई है, उसीकी राह होकर वह समष्टिके मुक्ति-मार्गकी लकीर खींचता है।

शैलेको प्रायः आकाश-विहारी और कल्पना-जीवी रोमांटिक कहा गया है। पर यह मानना ही होगा कि उन्नीसवीं शताब्दीके यूरपके इन आवारे राजकुमारोंने रोमांटिक उड़ानके जैसे निर्बन्ध छन्द और भावोच्छ्वास अपने काव्यमें व्यक्त किए, जिस अलौकिक स्वप्न-लोकका सृजन उन्होंने किया और जिस मर्यादा-भंग की ललकार उन्होंने अपने काव्यमें उठाई, उसीके अनुरूप निर्बन्ध, अलौकिक, सौन्दर्य-विहारी विद्रोह की मस्तानी ज़िन्दगी वे जीगये। मुक्ति, सत्य-साक्षात् और सौन्दर्यकी वैयक्तिक साधनाके मार्गकी जो अमर लकीरें वे काव्यके आसमानमें खींच गए हैं वे आज भी उतनी ही आकर्षक, गति-दायक और तेजस्विनी हैं। आज भी उनकी पंक्तियां पढ़ते समय हमारे बंदी चेतनके पंख फड़फड़ाने लगते हैं। उड़ानका ऐसा वीर्यवान और स्वप्न-पंखी काव्य पिछली शताब्दीके यूरपके वे रोमांटिक मस्ताने लिख गए। अखिल प्रकृतिके साथ तादाम्य साधकर उन्होंने 'उस पारकी' पुकारको अनुभव किया; उन्होंने जीवनकी सौन्दर्यमयी पुनर-रचनाके सपने बुने; मनुष्यके सार्वदेशीय मुक्त विकास और आत्माके परम स्वातंत्र्यको लक्ष्यमें रखकर उन्होंने एक मौलिक नैतिकताका विधान किया; धर्म और सदाचारके रूढ़ और जड़ बन्धनों तथा पाप-पुण्यके क्षुद्र, स्वार्थी पैमानेकी उन्होंने खिल्ली उड़ाई; अपनी वाणीके तेजोमान प्रहारोंसे उन्होंने, धर्म और भद्रताके नामपर खड़े हुए अनाचारके गढ़ों की बुनियादें हिला दीं। प्रभुके इन देव-दूतोंने अतीश्वरवादकी बढ़ती हुई गुलामी को देखकर, स्वयम् ईश्वरकी जड़ीभूत वैयक्तिक सत्ताके खिलाफ़ बग़ावतकी आवाज़ बुलन्द की तथा गिर्जों और महन्तोंके मिथ्यात्वोंका बुर्क़ा फ़ाश करके, जन-जनकी मुक्तिका मौलिक मार्ग प्रकाशित किया। मानव इतिहासके अब तकके ज्योतिर्धरोंको उन्होंने अपने काव्यमें पुनर्जन्म दिया और इस प्रकार

चिर प्रगतिशील चेतना की शाश्वती धाराको उन्होंने देश-कालगत प्रतिक्रियाओंके अवरोधोंसे मुक्त कर दिया। फिर कौन कह सकता है कि रोमांटिसिस्ट निरा स्वप्न-जीवी और आकाशविहारी होता है, कि उसके पैर धरतीपर नहीं होते, कि वह प्रगतिशील जीवनका द्रष्टा और स्रष्टा नहीं होता ?

• रोमांटिसिस्टकी अन्तर्मुखी साधनामेंसे आदर्शोंकी जो तेज-मूर्तियां साहित्यमें रूप लेती हैं, वही बहिर्जगतमें एक डायनमिक (प्रगतिशील) शक्तिके रूपमें संसरित होकर युग-जीवनमें क्रांति उपस्थित करती हैं। इसी स्वर्णा-मेरुपर पहुँच कर एक सर्जक सिद्ध होता है और उसके व्यक्तित्वमें अन्तर्मुख आत्म-लब्धी और बहिर्मुख प्रगतिका समन्वय होता है। इसी बिन्दु पर आकर रोमांसवाद और प्रगतिवादकी सन्धि होती है, और विकासके इसी स्तर पर सर्जनामें 'सुपर मेन' की सृष्टि होती है।

हमारे प्रगतिवादी मित्र प्रायः अपने भौतिक इतिहासवादके ठहरे-ठहराए पैमानेके आधार पर रोमांटिक सर्जनाको इतिहासके किसी सामंतशाही, साम्राज्यवादी, पूंजीवादी या अमुक युग या परिस्थिति विशेषकी उपज कह कर उड़ा देना चाहते हैं। यह प्रस्थापना कुछ बहुत स्थूल, उथली और बेबुनियाद सी जान पड़ती है। भावना, अनुभूति, उन्मेष, चिंतना ये सब एक अनाहत जीवनकी अनेक व्यक्तियां हैं। अनेक देश-कालोंमें नाना रूपोंमें व्यक्त होकर भी, ये सारी अभिव्यक्तियाँ उसी एक सन्मति सत्ताकी पुत्रियाँ हैं, जो अपनी स्थितिमें चिर पुराचीन होकर भी अपनी व्यंजना और प्रगतिमें चिर नवीन हैं। महासत्ताकी इस मौलिक एकता और सनातनताको अस्वीकार करके जो दृष्टिकोण सत्ताके देश-कालगत अवान्तर स्वरूपोंको ही सत्य मानकर उन पर जीवनके सारे मूल्योंको आधारित कर देता है, वह अनजाने ही अवैज्ञानिक और अप्रगतिशील हो उठता है। यह इतिहासवादी दर्शन जीवनकी अनन्त सम्भावनाओं और प्रगतिके प्रति अनास्था प्रकट करता सा लगता है। इस मापदण्डके अनुसार विश्वका अबतकका श्रेष्ठ काव्य-साहित्य और कला-

सिक्सभी एक परिस्थिति या युग विशेषकी प्रतिक्रिया भर ठहर जाते हैं। बीचके सारे देश-काल और परिस्थितियों की सीमाओंको भेदकर आज भी जिस साहित्यके स्वप्न, प्रेरणाएँ और सन्देश हममें शक्ति, सौन्दर्य और आनन्दका उन्मेष पैदा करते हैं, वह वैसी शक्ति रखते हुए भी इस दर्शनके अनुसार आउट-ऑफ-डेट और अवांछनीय क़रार दे दिया जाता है। चूंकि मौजूदा परिस्थितियोंकी विषमताके कारण जीवनमें एक अवरोधका जड़त्व आ गया है और उन उच्चतर भावना-कल्पनाओंकी अनुभूति हमारे लिए सहज सम्भव नहीं रह गई है, इसीसे क्या उनकी सचाईको इनकार किया जा सकता है ? आजकी प्रत्यक्ष वस्तुस्थितिको ही सत्यका अन्तिम आधार मानकर भूत और भावीका जो एक ख़ाक़ा हमने बना लिया है, उसीमें हम अपने भाव-संवेदनोंको एक मशीनके पुर्जोंकी शकलमें ढाल देना चाहते हैं, ताकि वे एक ख़ास बंधी शक्लमें काम करते रहें।

सामयिक संघर्ष या आवश्यकतासे उत्पन्न मूल्यका यह संकीर्ण मापदण्ड तो सत्यका आग्रही नहीं कहा जा सकता। यह तो सत्य पर एक प्रकारका बलात्कार हैं—कहें कि सत्यकी हत्या है। पर बात उनके हिसाबसे से ठीक भी है। क्योंकि खण्ड-खण्डके संघर्षका उनका एकान्त बहिर्मुख मार्ग ही ऐसा है कि वे अपनी नाकके आगे नहीं देख पाते। चूँकि वे स्वयम् एक भौतिक परिस्थितिको तोड़कर दूसरी भौतिक परिस्थितिके निर्माणमें ही अपने संघर्षका समाधान पा लेते हैं, इसलिए उनके साहित्यका युग तो एक विगत परिस्थितिमेंसे उठकर एक नवीन उपलब्ध परिस्थितिके बीचमें ही ख़त्म हो जाता है। वे तो अपनी वर्तमान जर्जर परिस्थिति, उसका नाश और उसके बाद अपने स्वप्नकी नवीन वांछनीय परिस्थिति—इस क्रमके बीच पड़नेवाली समस्याओंके दृष्टिकोणसे ही आजतकके तमाम मानव इतिहासके भावात्मक, वैचारिक और सांस्कृतिक विकासका एकबारगी मूल्यांकन

कर डालते हैं। वे तो स्वयम ही क़बूल करते हैं कि वे खण्ड-खण्डके प्रत्यक्षवादी द्रष्टा हैं और उसीके आधार पर उन्होंने अपना यह वास्तविक अनुभववादी (Empirical) जीवन-दर्शन बनाया है। बहिर्जगतके इन्द्रिय-गम्य सत्यके प्रति ही एकांतरूपसे आग्रही होनेके कारण अतीन्द्रिय अनुभूति, योग, तप या समाधिके अन्तर्मुख मार्गसे उपलब्ध किसी परोक्ष सत्ता—आत्मा, ईश्वर या किसी विराट चेतनाके प्रति वे आस्थावान नहीं। वे किसी सम्पूर्ण सत्य, शाश्वत तत्व या किसी सर्वज्ञताके विश्वासी नहीं। फिर हमारे ये प्रत्यक्ष-द्रष्टा भूतवादी मित्र क्यों विगत और आगामी मानव इतिहासकी गतिविधि पर अपना अन्तिम फ़ैसला दे देते हैं? यह उनके दायरेके बाहरकी चीज़ हो जाती है। यह तो सर्वज्ञतामें अविश्वास करके अनजाने ही सर्वज्ञताका दावा करना है। पर इस दावेके पीछे स्वयम्भू सत्य अपने आप ही बोल उठता है। चूँकि सर्वज्ञताकी सामर्थ्य शक्ति रूपसे आत्मामें मौजूद है, इसीसे हमारे व्यक्त ज्ञान-विज्ञान-कलाकी सारी चेष्टाओंमें सर्वज्ञताका वह अनुरोध और दावा साफ़ झलक आता है।

मेरा अपना ख्याल है कि दिवंगत कविगुरु रवीन्द्रनाथसे बढ़कर पारद्रष्टा रोमांटिक कवि और स्रष्टा समूचे विश्व-साहित्यमें शायद ही कोई दूसरा हो। रवीन्द्र वह महाप्राण द्रष्टा और स्रष्टा था, जो अपने आपमें ही एक विश्व बन गया था। सूर्य-चन्द्र और ग्रह-नक्षत्रोंके भी ऊपर होकर उसकी गति थी। इस अनन्त अवकाशमें वह एक प्लेनेटसे दूसरे प्लेनेट तक की डग भर कर चला है। इस पृथ्वीसे पैदा होकर, अपनी मुक्तिके पथमें इसकी भी गति पर आरोहण करनेकी स्पर्धा उसने की है। साहित्य या काव्यकी ऐतिहासिकता या परिस्थिति-जन्यताके बारेमें गुरुदेवने एक बार एक पत्र बंगालके सुख्यात प्रगतिवादी लेखक श्री बुद्धदेव बसुको लिखा था। बुद्धदेव बसुने गुरुदेवके रोमांटिक काव्य-विश्व के लिए उनकी कौटुम्बिक परिस्थितियों, उनके जीवनकालकी राजनैतिक और आर्थिक परिस्थितियों तथा इतिहासको ज़िम्मेवार बताया था। उसी सिलसिले

में गुरुदेवने बड़े स्नेहसे इस समस्याका समाधान करते हुए एक पत्र बसु महोदय को लिखा था। उक्त पत्रके कुछ अंश यहां उद्धृत करना शायद अप्रासंगिक न होगा :

"हम निरे इतिहास द्वारा ही संचालित होते हैं, इस बातको बारम्बार सुना है और बारम्बार भीतर ही भीतर खूब ज़ोरोंसे सिर हिलाया है। इस बहस का फ़ैसला मेरे अपने अन्तरमें ही है, वहां मैं और कुछ नहीं हूं—केवल मात्र कवि हूं। वहांपर मैं सृष्टकर्त्ता हूं; अकेला हूं, मुक्त हूं। बाहरके घटना-पुञ्जों के जालमें फँसा हुआ नही हूं। ऐतिहासिक पण्डित जब मुझे मेरे उस काव्य-सृष्टाके केन्द्रसे खींच लाता है, तब मुझे असह्य हो जाता है।

"...उस दिन एक अत्यंत अचरजकी बात मैंने देखी। धोबीका गधा आकर घास चर रहा है। ये गधे ब्रिटिश-साम्राज्य-नीतिके बनाए गधे नहीं हैं—ये हमारे समाजके चिर-परिचित गधे हैं, इनके चाल-चलनमें आदिकाल से कोई परिवर्त्तन नहीं हुआ। और एक गाय स्नेहसे उसका बदन चाट रही है। जीवनके प्रति जीवनके इस आकर्षणका चित्र, जो मेरी नज़रोंमें आया था वह आज भी नहीं भूलता। लेकिन इस बातको मैं निश्चयपूर्वक जानता हूं कि उस दिनके समग्र इतिहासमें सिर्फ़ रवीन्द्रनाथने ही मुग्ध नयनोंसे उसे देखा था। उस दिनके इतिहासने और किसी व्यक्तिको इस दृश्यका गम्भीर तात्पर्य इस तरहसे नहीं बताया। अपने सृष्टि-क्षेत्रमें रवीन्द्रनाथ अकेला है। किसी इतिहासने उसे साधारण लोगोंके साथ एक सूत्रमे नहीं बाँधा। इतिहास जहां आम है, वहांपर ब्रिटिश प्रजा थी पर रवीन्द्र नहीं था। वहां राष्ट्रीय परिवर्तनकी विचित्र लीला हो रही थी, पर नारियलके पत्तोंपर जो किरणें चमक रही थीं, वह ब्रिटिश सरकारकी लाई हुई चीज़ नहीं है। मेरी अन्तरात्माके किसी रहस्यमय इतिहासमें वह विकसित हुआ था और अपने आनन्दमय रूपमें वह नाना प्रकारसे सब कुछ प्रति-दिन प्रकाशमय करता था।

"उस दिन कविने देहाती जीवनका जो चित्र देखा, उसमें राष्ट्रीय इतिहासका घात-प्रतिघात अवश्य था। लेकिन उसकी सृष्टिमें मानव-जीवनके वही सुख-दुखके इतिहास थे, जो सभी इतिहासोंका अतिक्रमण करके हमेशासे किसानोंके खेतों, उनके त्योहारों और उनके सुख-दुखको लेकर चला आ रहा है। कभी मुग़ल और कभी अंग्रेज़ी राज्यमें उसके मनुष्यत्वकी अत्यन्त सरल अभिव्यञ्जना प्रतिदिन हो रही है। उसीकी छाया है गल्पगुच्छमें; किसी सामन्त तंत्र और किसी राष्ट्र तंत्रकी नहीं। आज-कलके समालोचक लोग जिस विस्तृत इतिहासमें बेखटके दौड़ लगाते हैं, उसमेंसे कमसे कम बारह आनेको मैं नहीं जानता। शायद मुझे इसीलिए विशेष क्रोध होता है। मेरा मन कहता है, हटाओ अपने इतिहास को। मेरी सृष्टिकी नैयाकी पतवार उस आत्माके हाथमें है, जिसकी अभिव्यञ्जनाके लिए पुत्र-स्नेहकी ज़रूरत है; नाना सुख-दुखोंको जो हज़म करके विचित्र रचनामें आनन्द पाता और उसका वितरण करता है। जीवनके इतिहासकी सभी बातें नहीं कर सका, लेकिन वह इतिहास गौण है। केवल सृष्टकर्त्ता मनुष्यके आत्म-प्रकाशकी भावनासे इस लम्बे युग-युगान्तरमें प्रवृत्त हुए हैं। उस इतिहासको बड़ा समझो, जिसे सृष्टि-कर्त्ता मनुष्य सारथी बनकर विराटकी ओर, इतिहासके भूतकालमें, मानव आत्माके केन्द्र-स्थलकी ओर ले जा रहा है।..."

रोमांस और प्रगतिमें जो विरोध हमें दिखलाई पड़ता है, वह सत्यके एकदेशीय आकलनके कारण है। कुछ लोग हैं जो केवल स्थितिको ही सत्य मानते हैं, तो दूसरे लोग हैं जो केवल गतिको सत्य मानते हैं। पर असलमें सत्यका अवस्थान स्थिति और गतिके संगोपनमें है। यों तो सत्ताका लक्षण ही परिणमन है; पदार्थ निरन्तर गतिशील और परिवर्तनशील है। जहाँ एक ओर पदार्थमें उत्पाद-नाशकी क्रिया सतत चल रही है, वहाँ अपने निज स्वरूप वह ध्रुव भी है। इस ध्रुवत्व या स्थितिसे अभिप्राय यह है कि निरन्तर प्रवाही और परिणामनशील होकर भी पदार्थ अपने मौलिक गुण-धर्मोंकी अपेक्षा

नित्य और ध्रुव है। यानी उन तात्विक गुण-धर्मोंमें कोई मौलिक परिवर्तन सम्भव नहीं होता। इसीसे सत्य अपनी स्थितिमें सम्पूर्ण है, पर अपनी गति-शील अभिव्यक्तिमें वह अन्तिम नहीं है। इसी कारण उसका पूर्ण ज्ञान हमें नहीं है। और हम उसे पूरी तरह नहीं जानते हैं, इसीलिए वैज्ञानिककी सतत खोज-शोधकी तल्लीन साधना है और इसीलिए रोमांटिसिस्टकी आत्मामें उड़ानका अनुरोध है—पूर्ण चेतना और पूर्ण ज्ञानकी प्राप्तिके लिए बेचैनी है। जो सत्यकी सम्पूर्ण सत्ताके आश्लेषका आग्रही है, उसका पथ रोमांसका है। और जो सत्यकी अनेक पर्यायात्मक (Formal) अभिव्यक्तियोंका खोजी है, वह अन्तहीन प्रगतिका उपासक है। दोनों ही एकान्त आग्रह छोड़कर सापेक्ष दर्शन कर सकें तो जीवन, विचार और कर्मकी एक सन्तुलित भूमिका पर आया जा सकता है। पर साध्य सत्यकी अपेक्षा साधन यानी पथका मोह जो बढ़ जाता है, उसीके कारण यह सारा वाद-संघर्ष है।

यह कहना और मानना भ्रम होगा कि रोमांसवादका युग अब गया और आज तो एकांत प्रगतिवादका ही साहित्यमें प्रभुत्व होगा। सृष्टिमें चूंकि ये दोनों ही तत्व अपनी जगह सत्य हैं, इसलिए साहित्य-सर्जनमें जीवन-दर्शन की ये दोनों ही धाराएं समानान्तर व्यक्त होती चलेंगी। दोनोंमें से किसी एक को भी इनकार नहीं किया जा सकता। दोनों ही में अविनाभावी सम्बन्ध है। जीवनके अन्तर्मुख और बहिर्मुख दर्शनकी चेष्टा जबतक है और जबतक अन्तर्जगतकी सत्ताका प्रमाण मनुष्यकी भावना और चिन्तनाकी चेष्टाओंसे मिलता रहता है, तबतक किसी वाद विशेषका एकान्त आग्रह अपूर्ण और आसक्त दर्शन ही माना जायगा।

प्रगतिका अग्रदूत कार्ल मार्क्स तो सबसे बड़ा रोमांटिसिस्ट था। क्योंकि मार्क्सका यह दावा था कि दुनियाके अबतकके दार्शनिकोंने तो विश्व-जगतका महज़ Interpretation (अर्थ) किया है—लेकिन मार्क्स पैदा हुआ है कि वह दुनियाको बदल देना चाहता है। उस महान क्रान्ति-द्रष्टाके

साध्यका स्वप्न भी रोमांसके ही अन्तर्लोकमें उदय हुआ था। उस स्वप्नको मूर्त करनेके साधन और मार्गोंकी खोज उसका वैज्ञानिक पहलू है। स्वप्न बोध-गम्य है और विज्ञान दृष्टि-गोचर है। जीवनमें स्वप्नको रूप देनेका विराट शिल्प-कार्य विज्ञान करता है। स्वप्न और विज्ञानके इसी सुसंवादी विकासके पथ पर विश्वकी सर्व-श्रेष्ठ कला-कृतियोंका निर्माण होता है। स्वप्न दृश्य रूप से असम्भव लगनेवाली मनुष्यकी महत्तर कामनाओं और जिगीषाओंका प्रति-बिम्ब है; वह आत्माकी अनन्त शक्तिका अनुरोध है और प्रगतिका उत्स है; तो विज्ञान उस स्वप्नको मूर्तरूपमें जग-जीवनमें उपलब्ध करनेवाली मानव की महा कर्म-शक्ति है। प्रत्येक सर्जक पर यह दायित्व है कि वह जीवनके इन शक्ति और व्यक्ति रूपोंकी ठीक-ठीक प्रतीति पाए और इन दोनोंकी समन्वितिमें ही अपनी सर्जनाको सँजोए।

अन्तमें एक स्पष्टीकरण आवश्यक है। रोमांसके नामपर साहित्यमें व्यक्ति-मनकी क्षणिक उमंगों, प्रमादों, दुर्बल इच्छाओं और हीन वासनाओं के निर्वीय प्रकटीकरणका हिमायती मैं नहीं। आपके उच्छ्वास तथा आपकी पुकारके ज़ोर और पहुंचका अन्दाज़ तो आपके छन्द बराबर दे देते हैं। रोमांस तो आत्माकी मुक्त उड़ान और मनुष्यकी सर्व-जयिनी, अपराजिता मनोकामनाका काव्य है। अपनी गतिमत्तासे देश और कालके पटलोंको कम्पित करते हुए उसके स्वर सर्वकालीन मानव-चेतनाकी अमर निधि हो जाते हैं। जिसके प्राणमें वैसा विराट सम्वेदन नहीं, वैसी वेधक अनुभूति और ज्वलन्त सौन्दर्य-वासना नहीं, वह और चाहे जो हो, रोमांटिक सर्जना का अधिकारी वह नहीं हो सकता। ऐसा छद्म- रोमांस यदि लिखा भी गया तो अपनी निर्वीर्यता और अपना दौर्बल्य वह अपने आप ही साबित कर देगा। राजनीतिकी तरह साहित्यमें धोखा ज़्यादा दिनतक नहीं टिक सकता। पिछले बीस वर्षोंका हिन्दीका छायावाद-युग मेरे ख्यालमें हिंदीकी आत्म-व्यंजनाका एक महानतम युग रहा है, जिसे विश्वकी श्रेष्ठतम काव्य-कोटिमें

खड़े करनेका नाज़ हम कर सकते हैं। जो लोग छायावादको नपुंसक कह कर उसकी खिल्ली उड़ाते हैं उन्हें मैं जयशंकरकी उस ज्योतिष्मती पुत्री 'कामायिनी' की ओर देखनेका इशारा करता हूं जो छायावादके उत्कर्षका चूड़ान्त बिन्दु है।

यहां रोमांसकी हिमायत मैंने की है—मुझे वह करनी पड़ी। इसलिये कि इधर साहित्यमें मत-वादोंका प्राबल्य होनेके कारण रोमांसको लेकर कई मिथ्या धारणाएं पनपती दीखीं; वह मुझे इष्ट नहीं जान पड़ा। साहित्यमें रोमांस और प्रगति दोनों ही की सत्ताको मैं समान निष्ठाकी नज़रसे देखता हूं। मैं तो दोनोंको अलग अलग करके देख ही नहीं सकता। आत्मा और शरीर, सूक्ष्म और स्थूल, भीतर और बाहर दोनोंके योगमें ही जीवनकी महान प्रक्रिया सम्पन्न होती है। फिर दोनोंमेंसे किसी एक ही पहलूको लेकर कैसे जीवनको सम्पूर्ण समस्याओंका हल पाया जा सकता है? एक पहलूको लेकर वाद बनाए हैं, इसीसे तो समके सारे उपायोंके बावजूद जीवन विषमतर होता जा रहा है। न तो रोमांसका ही कोई वाद मेरे निकट इष्ट है और न प्रगतिके नाम पर कोई वाद चलाना वांछनीय है। वह रोमांस सच्चा रोमांस नहीं जिसमेंसे जीवनकी प्रगतिका श्रोत नहीं फूटता।

आजका द्रष्टा मानव मात्रकी सार्वदेशीय मुक्तिका स्वप्न देख रहा है। भाग्यवाद और कर्मवादकी जड़ सत्ताके शासनको झेलनेसे इनकार करके, मनुष्यने अपने भीतरकी अनन्त ज्ञान-दर्शन और कर्मकी स्वाधीन क्षमताको पहचाना है। मनुष्यके चैतन्य और उसके कर्तृत्वसे ऊपर होकर ऐसी कोई शक्ति नहीं जिसे वह अजेय माने। कर्म और भाग्यकी सत्ता यदि है भी तो अपनी आत्माकी अमोघ शक्तिसे वह उसे तोड़ सकता है। समूचे विश्व-प्राण में आज जन-जनकी मौलिक मुक्ति और अधिकारोंका उद्बोधन जाग्रत हो उठा है। कोई किसीके अधीन होकर नहीं रहेगा: झूठे स्वामित्वका नाश हो जएगा; जगतमें जो कुछ है वह सब सभीका है। सबल अबल पर जुल्म नहीं

ढा सकेगा; दूसरेके शोषण और श्रमपर जीनेका अधिकार किसीको नहीं है। ज्यों ज्यों मनुष्यके भीतर सर्वकी मुक्ति, समता और कल्याणका यह अनुरोध प्रबल हो रहा है, त्यों त्यों दूसरी ओर जड़त्वके स्तूप ढह रहे हैं। स्वार्थोंकी बलात्कारी और अनाचारी संस्कृतियाँ लड़खड़ा रही हैं। युग-युगोंके दासत्व की साँकलें तोड़कर आज मनुष्य अपने मुक्ति-मार्गपर एक महान विजेताके गौरवसे आरूढ़ है। मंज़िल अभी दूर है; राहमें कई बाधाओंके पर्वत-समुद्र, नदी-नाले, खंदक-खाई पड़े हैं। पर उसकी विजय निश्चित है। उसकी जय-यात्राका यह दृष्य कितना भव्य है—कितना देवोपम !

विश्वके नव-जन्म धारण की इस गम्भीर घड़ीमें मैं उस सर्जकका स्वागत करता हूं जो अपने रोमांसके आकाश-वातायनपर बैठकर मनुष्यकी इस मुक्ति-यात्रामें अपने ज्योतिर्मय सपनोंसे उसकी राह प्रकाशित कर रहा है और उसे सही दिशा-दर्शन दे रहा है।

पराजित बुद्धिवाद

चिरकालसे मनुष्यकी ज्ञान-साधनाका अभीष्ट यही घोषित होता आया है कि परिपूर्ण ज्ञान ही चेतनका मौलिक स्वरूप है। ज्ञान-साधनाके द्वारा मनुष्य पारदर्शिताकी वह ज्योतिर्दृष्टि प्राप्त करना चाहता है, जिससे अन्ततः वह निखिल सृष्टिके आर-पार देखता हुआ उसे अपने भीतर उपलब्ध कर ले, उसके साथ एकात्म्य लाभ कर सके। ज्ञानकी यह परिपूर्णता अन्तिम सत्य है, इसीलिए सृष्टिके बहिरङ्गमें निरन्तर चल रहे संघर्ष-परिवर्तनोंके बावजूद भी, ज्ञान-साधकोंकी श्रेणीमें यह आदर्श अविच्छिन्न रूपसे आज तक प्रतिष्ठित होता चला आया है। और आज भी ज्ञानी और जिज्ञासु-जन भाषाके उलट-फेरके साथ ठीक इसी रूपमें आदर्शको परिभाषित करते हैं। उसे आप कैवल्य कहिए, बोधि-सत्व कहिए, ब्रह्मकी उपलब्धि कहिए, लोक-जीवनके साथ तादाम्य-साधन कहिए और अत्यंत आधुनिक भाषामें व्यक्तित्वका पूर्णविकास, विस्तार या व्यापकता कह लीजिए। किसी भी देश अथवा काल

को ले लीजिए, मनुष्यकी धर्म, दर्शन, ज्ञान-विज्ञान, कला, साहित्य आदि प्रवृत्तियों और चेष्टाओंका परिचालक मनुष्यने इसी अभीष्टको घोषित किया है।

बुद्धि मनुष्यकी प्रधान और यथासम्भव अधिकसे अधिक शुद्ध ज्ञानेन्द्रिय है; वह आत्म-साम्राज्यका सिंह-द्वार है। जीवनके पतनका सबसे बड़ा खतरा भी इसी सिंहद्वारपर आसीन है। यहीं आकर मानव उस द्वारकी अमाप विशालताको देखकर, अपने ही अहं की मिथ्या आत्म-तुष्टिका शिकार बन जाता है। तब अपने अनजाने ही, वह साधना करनेके बजाय, आत्म-भोग और आत्म-प्रस्थापनमें लिप्त हो जाता है। और यों वह ज्ञानके द्वारकी इस कठिन कसौटीपर विफल होकर अपने ही अहं के सीमा-बन्धनोंमें बँधा मोहके अन्धकार में भटकता रहता है। आत्म-लाभ, कैवल्य-बोध या लोक-कल्याणकी निकट-तम अवस्था तक पहुँचकर भी, मनुष्य यदि अपनी भौतिक व्यक्ति-सत्ताके अहं और कर्तृत्व-गर्वसे मुक्त न हो सका, ममताकी अणुमात्र भी सतर्कता यदि कहीं उसकी चेतनामें अटकी रह गई, तो उसकी सारी साधना-तपस्या निष्फल हो जाती है।

पर यह तो आदर्शकी बात हुई। जीवनके यथार्थ आचरण पक्षपर हमें विचार करना है। आदर्श कोई प्रतिमा-पूजन या बौद्धिक भोगकी वस्तु नहीं। वह आदर्श मृत है, निकम्मा है, जड़ीभूत है, जिससे हम जीवनकी हमारी कर्म-चेष्टाओंका संयोजन, संयमन, नियमन न कर सकें; जिससे हम अपने कर्म-पथमें प्रकाश या पथ-निर्देश न पा सकें। लेकिन चूँकि परिपूर्ण आदर्श हमारी एकांगी बुद्धिके आकलनमें नहीं आ पाता है, इसीलिए जीवनके कर्म-पक्षमें आंशिक रूपसे उसका आचरण ही व्यर्थ है; यही हमारे आजके एकान्त बुद्धिवाद-जनित यथार्थवादका भ्रामक तर्क है, जो आज हमारे सारे चिन्तन-चक्रकी धुरी बन बैठा है। इसी तर्कने हमारे सारे जीवनको जड़तामें सीमित कर एक ग़लत चक्करमें डाल दिया है। और इसीका परिणाम है कि आज विश्व-संस्कृति पतनके खौफ़नाक कंगूरोंपर खड़ी सर्वनाशको आमंत्रित कर

रही है।

एकांगी बुद्धिवादका यह व्यापक खतरा हमें व्यक्तियोंके जीवनमें भी देखनेको मिलता है। व्यक्ति-जीवनमें इस एकान्त बुद्धिवादिताने जिस घोर अनादर्श-वादिता, अनीश्वरता, आचरण-शून्यता, अश्रद्धा और भ्रामक अहमन्यताको जन्म दिया है, वह हमारे आजके बहिर्जगतके युद्ध-विनाशके बाद मानवीय अन्तर्जगतके संघर्षका अध्याय है। आज नकारात्मक तर्कका प्राबल्य इसलिए है कि मनुष्य आदर्शसे मुक्त होकर, आचरण-संयमसे अपनेको निर्बन्ध कर लेनेको मत्त हो उठा है। और आदर्शके इस अभावने जो शून्य छोड़ा है, उसमें भौतिक व्यक्तिमत्तासे सीमित मनुष्यकी बुद्धिके निरर्थक अभिमानको प्रश्रय मिला है। बुद्धि ही के प्रखरतम रूपको सत्यका चरम प्रकाश मानकर, स्वमोहकी पट्टीको आँखोंपर बाँधे मनुष्य एक दुर्भेद्य जड़तासे पछाड़ें खा रहा है; और वह यह समझता है कि यों किसी दिन टूट-बिखरकर वह अपने व्यक्तित्वको विस्तृत कर ले जाएगा।

इस स्वमानकी मदान्धता और सीमितताने मानवमें हिंसा, अप्रेम, घृणा, नकारात्मकता तथा अविश्वासकी वृत्तियोंको इतना उत्कट बना दिया है कि विज्ञानके द्वारा मानवोंको निकटसे निकटतम लानेके सारे भौतिक उपकरण-साधन जुटाकर भी, अपने अनजाने ही मानवी मेधाने मानव-मानवके बीच—आत्मा-आत्माके बीच—एक अमाप खाई उत्पन्न कर दी है, जहाँ मृत्यु झूम रही है। मनुष्य-मनुष्यके बीच आज प्रेम नहीं, आत्मीयता नहीं, बल्कि मृत्युकी बाधा एक दुर्भेद्य अँधेरेकी दीवार बनी खड़ी है। यह इसलिए कि हमारी ज्ञान-दृष्टि इस दृष्यमान, चाक्षुष् जगत तक ही सीमित रह गई। हमने बुद्धिको अन्तिम निर्णायक मान लिया और बुद्धिकी पकड़में जो न आ सका उस परिपूर्ण आदर्शकी सत्ताको इनकार कर दिया। वह आदर्श जीवन मात्रके बीच एक-सूत्रताका साधक था। वह समस्त लोक-कल्याणके मूलमें स्वयंभु रूपसे प्रतिष्ठित था। उसकी भित्तिपर व्यष्टि और समष्टिकी मूलभूत

परस्परापेक्षिता तथा अटूट आत्मीयताका निर्णय होता रहता था। उस भित्ति को ही जब हमने बौद्धिक तर्कके हथौड़ोंसे चूर-चूर कर डालनेकी ठान ली, तब लोक-कल्याणके सारे उच्च संकल्पों, भावनाओं और परिकल्पनाओंके रहते भी हम गुमराह हो गए।

सृष्टिके विकास-क्रममें क्रिया-प्रतिक्रियाकी शृंखला बराबर चली आ रही है। जन्म और मरण संसृतिकी शर्तें हैं; संसार यदि चलना है तो इन दोनोंको स्वीकृति देकर। जड़ जगत, निम्न कीटि-जगत और पशु-जगतकी तरह मनुष्य इस संसृति या प्रकृतिका अक्रिय अङ्ग मात्र नहीं है। मनुष्य सृष्टिमें उसके उत्पादक और नियामकका प्रच्छन्न प्रतिनिधि है। अपने कर्तृत्व और नियामकताकी सम्पूर्ण क्षमताको पहचाननेकी दिशामें जो मनुष्यका विकास है—वही उसका परिष्कार-संस्कार है; या यों कहिए उसकी संस्कृति है। इस विकास-क्रममें मनुष्यने अपने भीतरकी ज्ञान-दर्शन और कर्तृत्वकी परम-तम क्षमताको जब पहिचाना, तब उसी अपने अन्दरकी प्रच्छन्न, परोक्ष शक्तिको उसने ईश्वर नाम देकर प्रतिष्ठित किया। यह ईश्वरत्व उसका मूल धर्म था, इसलिए इसकी सम्पूर्ण उपलब्धिके मार्गको धर्म नाम दिया गया। और इसी धर्मके सिंहासनपर मनुष्यने अपने उस शुद्धात्माको एक प्रतीक आदर्शके रूपमें आसीनकर उसका पूजन आरम्भ किया। परिस्थितियोंके विशिष्ट तीव्र संघर्षके फलस्वरूप जन्मे हुए ज्योतिर्धरोंने इस प्रतीककी सत्यताको समय-समय पर प्रमाणित किया। और इसी प्रतीकके आधारपर व्यष्टि-समष्टिके सम्बन्धोंका संतुलन होने लगा। पर बीचमें दीर्घकालतक परिस्थितियोंकी जो स्थिरता रही, उसमें कोई विशिष्ट ज्योति जन्म न ले पाई। मानवीय इतिहासके दीर्घ विच्छेद के इस अन्धकार युगमें व्यष्टि-समष्टिके मार्गोंका संतुलन भङ्ग हो गया। अन्तर्मुखी धर्मका मार्ग निरा बहिर्मुखी रूढ़ सामाजिक नीतिविधान रह गया। समाजकी चोटीपर बसनेवाली शासक और आर्थिक शक्तियोंके हाथों पड़कर धर्म, समर्थोंके द्वारा असमर्थोंके शोषणका हथियार बन गया। व्यष्टि-समष्टिकी एक-

सूत्रताका भङ्ग होते ही धर्मकी विकृति हो गई। व्यक्तिकी कुचली हुई आत्मा ने समाजके खिलाफ़ ज़िहाद किया, तब भौतिक व्यक्तिवादका जन्म हुआ। आदर्शहीन भौतिक समाजवाद इसी भौतिक व्यष्टिवादकी प्रतिक्रिया है। इस भूमिपर आकर मनुष्यके लिए धर्मका द्वार रुद्ध हो गया। उसने अपनी पीड़ित बुद्धिके प्रतिक्रिया-जनित तर्कपर ही विश्वास करके धर्मके खिलाफ़ भयङ्कर विद्रोह किया। और जिस भौतिक आर्थिक शक्तिने मनुष्यको कुचला, उसीको चरम सत्ताके रूपमें स्वीकार कर उसीके प्रकाशमें मनुष्यकी घायल बुद्धिने मानवके सारे जीवनका आर्थिक विश्लेषण कर डाला। किसी पारदर्शी ज्योतिर्धरके अभावमें मनुष्य अपने प्रकृतिपर विजय प्राप्त करनेके आध्यात्मिक मार्गसे च्युत होकर प्रकृतिके संघर्षको ही अपनी अन्तिम परिणतिके रूपमें स्वीकार कर बैठा। इस संघर्षके दुर्वृत्त (Vicious circle) से परे अपनी मुक्तिका मार्ग वह न देख सका।

मानवीय इतिहासमें यही वह स्थल है जहाँ मार्क्सका ऐतिहासिक भौतिकवाद अस्तित्वमें आया। माना कि मनुष्य बेबस हो गया था; पर यह भी मानना ही पड़ेगा कि वह अर्थ-शक्तिके आगे मानवीय आत्माकी बहुत बड़ी पराजय थी। लेकिन इतिहासकी उस सीमापर मार्क्स एक अनिवार्य तार्किक क़दम था। उस समय सत्य वहीं जाकर रुक गया—उसके आगेके अँधेरेको मार्क्स न भेद सके। पर यह तो हमें मानना ही होगा कि जीवनके चार पुरुषार्थ-धर्म, अर्थ, काम, मोक्षमेंसे अर्थ पुरुषार्थका जैसा कल्याणकारी विधान मार्क्सने किया वह संसारके इतिहासमें अभूतपूर्व है। उनके इस दानके लिए चिरकाल तक मानवजाति उनकी ऋणी रहेगी। पर अर्थ-तत्व की आत्यंतिक प्रतिष्ठाके कारण अन्य तीन पुरुषार्थ-धर्म, काम और मोक्षके पारमार्थिक मूल्योंका जीवनसे उच्छेद हो गया। इसका परिणाम यह हुआ कि समताके सारे प्रयत्नोंके बावजूद हमारी विषमताएँ दिन-बदिन जटिलतर होती गई। इसीकारण मार्क्सको हम वह ज्योतिर्द्रष्टा, सबल विद्रोही प्रकाश

नहीं मान सकते जो उस अर्थ-शक्तिको वेधकर, उसे पराजित कर—उससे परे मानवके अन्तर-आत्मामें होकर ही मानव-कल्याणका मार्ग निर्धारित कर सकता; ताकि मनुष्यको अपने अभीष्टकी प्राप्तिके लिए एक बहिरङ्ग जड़ पदार्थ अर्थ का गुलाम होकर न रहना पड़ता। उस परम विजेता पैगम्बरको हम मार्क्समें नहीं पा सके। मार्क्सके सिद्धान्तने अनजाने ही अत्याचारी दानवको देवताके आसनपर बिठाकर उसमें लोकजीवनके आदर्शकी प्रस्थापना कर दी और उसके चरणोंमें मनुष्यकी आत्माको चढ़ा दिया। मनुष्यके भीतरकी अनन्त ज्ञान-दर्शन-सुखकी आध्यात्मिक क्षमता जब अर्थ-तत्वमें बन्दिनी हो गई, तब एक और प्रतिक्रियात्मक विद्रोह उस कल्याण-विधानके गर्भमें पलने लगा। व्यक्तिकी सत्ता सर उठाना चाहती है, पर वही समाजकी शृंखलाएं, वही सींकचे; पहले वे धार्मिक रूढ़ताके रूपमें थे, अब वे आर्थिक रूढ़ताके रूपमें परिवर्तित हो गए। उस निर्बल विद्रोह और सतहकी क्रान्तिको कैसे सामाजिक ढाँचेमें आमूल क्रान्ति मान लें? जिस क्रान्तिके गर्भमें ही एक प्रतिक्रिया पल रही थी उसकी सार्थकताकी बुनियाद क्या? मार्क्सका लक्ष्य परमतम था। जिन उद्देश्योंसे वे प्रेरित हुए थे, वे नितान्त पारमार्थिक और परोपजीवी थे। और इस सद्प्रेरणा और महान् विश्वानुभूतिके लिए, इतिहासमें मार्क्सकी महानता अक्षुण्ण रूपसे स्वीकार की जाएगी और पूजी जाएगी। पर उनकी बुद्धिकी यह बेबसी थी कि वह अर्थतत्वसे आगे न जा सकी। किन्तु इसीलिए उसको अन्तिम सत्य मानकर हम उन्हें ज्योतिर्धरकी उपाधिसे विभूषित करें, यह मार्क्सकी व्यक्तिसत्ता और महानताका अपमान होगा। कल्याणकी उत्कृष्टतम भावना, प्रेरणा, कांक्षा और संकल्प लेकर भी मार्क्स अपने एकोन्मुखी जीवन दर्शनके कारण एक एकांगी दार्शनिक ही माने जाएंगे। वे उस सतह तक नहीं पहुँच पाए जहां कृष्ण, महावीर, बुद्ध, ईसा, मोहम्मद और गांधी जैसी ज्योतियाँ जन्मीं, जिन्होंने उस सत्यकी प्रतिष्ठा की, जो काल-कालान्तरमें अकुण्ठित और निर्बाध गूँजता चला आया है; जो अतर्क्य है, क्योंकि मूलभूत

सत्य है। बीच-बीचमें विकृतियाँ हुई हों, प्रतिक्रियाएं हुई हों, व्यतिक्रम हुए हों, पर उन सारे विपर्य्ययों और संघर्षोंके बीच भी वह दिव्य वाणी कभी मिथ्या या व्यर्थ नहीं हुई है।

रूसमें क्रांति हुई और उसके बाद जब मार्क्सियन समाजवादको रचनात्मक रूप देनेका आयोजन हुआ तब उसके विधाता लेनिन थे। जिस स्थितिमें लेनिन थे वह समाजवादकी उज्ज्वलतम स्थिति थी। और लेनिन का उद्देश्य उस प्रतिक्रियासे कलुषित न हो सका था जो इस दर्शनकी ग़लती के कारण उसके भीतर अंकुरित हो उठी थी। इसीलिए लेनिन हमें अलिप्त, दिव्य, वीतराग दिखाई पड़ते हैं। कल्याणका ज्योतिर्वलय उनके व्यक्तित्वके आसपास उद्भासित है। पर उस मूल ग़लतीको वे भी न पकड़ सके; क्योंकि युगका तक़ाज़ा दुर्निवार था और वे कर्मके अवतार थे सो उसमें वे अपनेको सार्थक कर गए। लेनिनका वह ज्योतिर्मय स्वरूप ज्योंही भौतिक अस्तित्वसे विलुप्त हुआ कि वह भीतरकी प्रतिक्रिया पनप उठी। व्यक्तियोंके अहं और सत्ताकी महत्वाकांक्षाके संघर्ष जाग उठे। व्यक्तियोंने अपनी भौतिक व्यक्तिमत्ता और शासन-वासनाओंको महत्व दिया। जिस अर्थ-दास्य, सत्ता और स्वामित्व-भोगके अत्याचारोंके ख़िलाफ़ बग़ावत करके समाजवाद अस्तित्व में आया था, वही समाजवाद जब सृजनकी कसौटीपर आया तो उसीके सृष्टा नेतृत्व-कांक्षा और शासन-मदमें अन्धे होकर परस्पर सत्ताकी बागडोर पकड़नेके लिए झगड़ने लगे। विश्व-क्रांतिके द्रष्टा ट्रॉट्स्की लेनिनके सच्चे प्रतिनिधि थे और लेनिनकी अन्तरराष्ट्रीय क्रांति-योजनाके समर्थक थे। वे निखिल मानव-कल्याणका धार्मिक संकल्प लिए थे और स्टालिन उस विचार के विरोधी थे। यही ट्राट्स्कीका अपराध था, जिसके लिये उन्हें आजीवन अपनी मातृभूमिसे बिछुड़े रहना पड़ा, और मृत्युके मुँहपर अपने सिद्धान्तकी घोषणा करते हुए ज़िन्दा रहकर, एक दिन रहस्यमयी हत्याके घाट उतर जाना पड़ा। ट्राट्स्कीकी हत्या भौतिक समष्टिवादके विरुद्ध पुनः व्यक्तिके

आध्यात्मिक विद्रोहकी दिशामें इंगित करती है। साम्यवादी रूसके सारे स्वतन्त्र चिन्तकों, दार्शनिकों और वैज्ञानिकोंकी कुर्बानियां व्यक्तिकी आत्माके उसी आध्यात्मिक विद्रोहकी द्योतक हैं। नितान्त तार्किक और वैज्ञानिक रूपसे इसका यह अर्थ होता है कि समाजवादमें आर्थिक आदर्शकी प्रतिष्ठा होने और स्वतंत्र मानवी चेतनाकी अवज्ञा होनेसे व्यष्टि और समष्टिके जीवनों और मूल्योंका संतुलन न हो सका। उनकी परस्परापेक्षिताके सत्यको मार्क्स न पहचान सके। समाजवादका दर्शन अधूरा और सीमित रह गया, इसी कारण रचनाके क्षेत्रमें आते ही उसकी प्रतिक्रिया हुई। वह एकांगी दर्शन साबित हुआ। जीवनके आध्यात्मिक और भौतिक मूल्योंका संतुलन और सामंजस्य-साधन न हो सका। यदि पहले धार्मिक अन्धता सीमापर पहुँच गई थी तो अब भौतिकता उतनी ही भयंकर हो उठी है। आगामीकल की कल्याणी मानव संस्कृतिका मसीहा वह होगा, जो इन छोरोंकी एकांगिता को मिटाकर, धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष नामक जीवनके चार विभिन्न पहलुओं के सामंजस्यपर भावी संस्कृतिका पथ-निर्माण करेगा। दुराग्रह त्याग कर कोई समझना चाहे तो गहराईसे सोचकर समझ देखे कि गांधीके मार्गमें इस समन्वयकी योजना है,—जो भी उसका बाह्य टेकनीकल विधान भले ही पूरी तरह सम्पन्न न हुआ हो। पर वह तो खाली सोच-विचार, बुद्धि और तर्कका रास्ता नहीं; त्याग और आचरणका मार्ग है। उसपर तो चलकर ही उसकी पूरी सचाई समझमें आ सकेगी। तर्कसे कर्म-योगका पूरा उत्तर नहीं मिलता। परमात्म-शक्तिपर श्रद्धा रखकर उस मार्गपर आचरण करनेसे ही मनुष्य फलाकांक्षासे परे सम्पूर्ण फलका स्वामी आप अपने ही को पाने लगता है। फिर कांक्षा कैसी और संघर्ष क्यों?

समाजकी भौतिक जीवन-रचनाके मांगलिक स्वरूपकी वांछनीयतासे कौन इनकार कर सकता है? और आज कौन विचारशील आदमी ज़िन्दा है जो अपने उद्देश्यमें समाज-वादी नहीं है? वाद और राष्ट्र विशेषके प्रति किसी

दुराग्रहसे प्रेरित होकर आलोचना करनेका अभिप्राय यहाँ नहीं है। आज तो हमारे विचारका धरातल विश्व-कल्याणका धरातल है। इससे नीचे उतर कर केवल राष्ट्रीयताकी रक्षाका मूल्य तो अब निरर्थक और परिणाममें अनिष्टकर सिद्ध हो चुका है। पहले महायुद्धके उपसंहारमें विचारक-संसारने एक-देश राष्ट्रीयताकी कड़ी भर्त्सना की और राष्ट्रीय स्वार्थ-जनित विद्वेषको ही उन्होंने उस संहारके मूलमें पाया। इसी बीच रक्त-पथसे चलकर रूसने क्रान्ति-यज्ञ किया और मार्क्स-निर्दिष्ट समाजवादके आधारपर एक आदर्श समाज-व्यवस्थाकी प्रतिष्ठा की। समाजवादके द्वारा होनेवाले धर्मके उच्छेदने शायद तब जगतको इतना विचलित न किया, जितना समाजवाद द्वारा समग्र मानवताके उद्धारकी आशाने संसारको आकर्षित किया। दीर्घ द्दष्टा चिन्तकोंने भी रूसके इस मंगलायोजनमें होकर सुदूर भविष्यके अन्तरालमें एक संघर्ष-मुक्त सुखी मानव-जगतका स्वप्न देखा। तब किसी को यह सोचनेका अवकाश ही न था कि इस प्रत्यक्षवादी आदर्श-विधान ने परोक्षकी सर्वथा अवज्ञा करके एक मौलिक खतरा अपने बेजाने ही उठा लिया है। प्रत्यक्ष वर्तमान और वास्तवके पूर्व और अपरमें भी एक श्रृंखला कार्य-कारण रूपसे सतत काम कर रही है, यह दर्शन-चिन्ताकी हमारी बुद्धि तब हमारे निपीड़नसे मानो अचेतहो गई थी। यही कारण था कि तात्कालिक क्रिया और उसका निकटतम परिणाम ही वह वस्तु-वादी दृष्टि देख सकी; दूर तककी व्यापक प्रतिक्रिया हमारे विचारमें ही न आ सकी। यह ग़लती मूलतः मार्क्स-प्रणीत समाजवादमें ही थी, सो सीधी जीवनमें स्वीकार कर ली गई।

पर मनुष्य और पशुमें तो तात्विक भेद है। मनुष्यका एक इकाईके रूपमें परात्मक अध्ययन मार्क्स न कर पाए थे। मनुष्य-समाजको पशु-समाज की तरह एक Organism के रूपमें मानकर ही मार्क्सने बाहर-बाहरसे नितान्त परात्मक विचार किया था। इस यांत्रिक दृष्टिकोणने स्वतन्त्र मानव-

चेतना या मानव-मनके अस्तित्वकी सर्वथा उपेक्षा कर दी। व्यक्ति सिद्धान्ततः लोप हो गया। लोप हो गया विचार-भूमिसे, पर उसकी सत्ताको कौन मिटा सकता था। इसी उपेक्षित व्यक्ति-सत्ताने अवसर पाकर, समाजवादके सारे बाह्य साम्य-विधानके ऊपर होकर चुपचाप अपनी शक्ति संचय कर ली और यहीं कहींसे डिक्टेटर अस्तित्वमें आ गया। अर्थात् इसी द्वारसे फैसिस्टवाद अपनी सम्पूर्ण शक्तिसे उदय हुआ। स्टेलिनका बाह्य जीवन भले ही उस साम्यका स्वरूप-वाहक प्रतीक बना रहा, पर भीतर स्वेच्छाचारी व्यक्ति-डिक्टेटर केन्द्रित शक्तिके पालनेमें झूल रहा था। मनुष्यने अपनी भौतिक व्यक्तिमत्तापर ही अतिरिक्त रूपसे विश्वास कर लिया। यों मनुष्यके प्रबल से प्रबल मनोविकारोंको भी भीतर ही भीतर एक नैतिक स्वीकृति मिल गई। अपने औचित्यानौचित्यके निर्णायका बुद्धि द्वारा निर्देशित मार्ग ही उसके लिए अब उचित मार्ग था। यों एकान्त परात्मक विचार-दृष्टिने, प्रतिक्रियात्मक रूपसे मनुष्यको बहुत ही निचले स्तरपर लाकर आचरणमें एकान्त स्वात्मक तथा स्वेच्छाचारी बना दिया। हमारे युगकी यह दार्शनिक ग़लती हमारे आजके व्यक्ति-मन तकमें स्वभाव बनकर काम कर रही है। आजका बुद्धिवादी व्यक्ति विचार में परात्मक द्रष्टा है कट्टर, पर आचरणमें वह नितान्त स्वात्मक है—कह सकते हैं, स्वार्थी है। अपनी बात कहनेसे उसे फुर्सत नहीं, और दूसरेकी बात सुननेका उसे धैर्य नहीं। सब अपनी अपनी कहते हैं और सुनता कोई किसीकी नहीं है। बुद्धि-तत्व अपनी क्रियामें ही विषम है—सो चारों ओर वैचारिक अराजकताका साम्राज्य है। ऐक्यका स्थल जो हृदय है—उसे बुद्धिवादने भावुक क़रार देकर इनकार कर दिया है। अपनी भौतिक शक्ति और कर्तृत्वपर मनुष्यको आवश्यकतासे अधिक विश्वास है, इसीलिए परोक्ष धर्म और आदर्शकी वह खिल्ली उड़ाता है। यही है वह दाम्भिक अहं जो व्यक्तिसे लगाकर समाज, राष्ट्र और विश्व तक के आज के इस दारुण संघर्षका दायित्व सँभाले है। निष्कर्ष यह निकलता है कि

भीतर-बाहरकी सम-स्वरता नष्ट हो गई है, इसी कारण यह महान ग्लानि उत्पन्न हुई है।

सो बाहर-बाहरकी हितैषणासे प्रेरित, परात्मक और बुद्धिवादी समाजवाद बड़े समारोहसे रूसमें प्रतिष्ठित हुआ सही—और पल्लवित भी हो चला; पर भीतर-भीतर पनप रही उसकी एकान्त स्वात्मकताकी कथा कोई नहीं जान सका। भीतर-बाहरका समन्वय उस विधानमें सिद्धान्तसे ही नहीं था। परिणाम यह हुआ कि रूस भी राष्ट्रीयताके उस पुराने घातक दुर्वृत्त से अपनेको मुक्त न कर सका। बाहरकी परात्मकताने उसे इस राष्ट्रीयता की घोषणा करनेका साहस तो न करने दिया, पर भीतर ही भीतर राष्ट्र-हित रक्षाकी आत्यन्तिक चिन्ता ही उसका प्रधान लक्ष्य बन रही। यानी यही कि भीतर-बाहरकी यह दूरी बढ़ती ही गई। शक्तिमत्त स्टेलिनने अंतरराष्ट्रीय क्रांतिके उपासक ट्रॉट्स्कीको रूससे निर्वासित कर अपना मार्ग निष्कण्टक कर लिया। और दुनियाके सामने कैफ़ियत यह दी कि पहले साम्यवादकी समीचीन प्रतिष्ठा हम रूसमें कर लें, उसके बाद हम विश्वकी हित-चिन्ता करेंगे। मानों मनुष्यको अपने प्रत्यक्ष और वर्तमानपर तथा अपने भौतिक कर्तृत्वपर इतना अधिक विश्वास था कि उसने अपने सीमित बुद्धिबलके बूते आसपासके देश-कालके परिवर्तन और प्रकृतिकी निरन्तर काम कर रही संघर्षाभिभूत शक्तियोंकी या तो सहज ही अवज्ञा कर दी या सहज ही अपनेको उनका निर्बाध स्वामी मान लिया। बात तो उत्कृष्ट थी—यानी यह तो ईश्वरत्वकी साधनाका मार्ग था। पर बीच-बीचमें आनेवाली प्रत्यक्ष बाधाओंका निराकरण, इस स्वयम्भू और सर्व-शक्तिमान डिक्टेटरने उन्हीं साधनोंसे किया जिनसे दूसरे स्वार्थी राष्ट्र अपनी बाधा दूर करते थे। यानी यह कि अपनी रक्षा, अपने राष्ट्रकी आत्म-रक्षा, दूसरे राष्ट्रोंके अस्तित्वकी क़ीमतपर करना भी उसे अनुचित न जान पड़ा। "प्रत्यक्ष वर्तमानके लिए हमें रूसकी रक्षा कर लेने दो, उसमें तुम भी अपनी बलि दे दो; भविष्यमें

अवकाश पाकर तुम्हारे उद्धारका आयोजन हम करेंगे।" सर्वशक्तिमान ईश्वरत्वके मार्गके दावेदार Super Man के मुँहसे ये बातें बच्चोंके खेलके तर्क जैसी जान पड़ती हैं। रूसके लिए आत्मरक्षाकी समस्या ही सर्वोपरि हो उठी, और जब आत्म-रक्षाकी अतिरिक्त प्रबन्ध-योजना दूसरे राष्ट्रोंके अस्तित्वकी क़ीमतपर होने लगी तब रूसकी नैतिक इज़्ज़त और विश्व-साम्यका भावी आदर्श खतरेमें पड़ गया। आत्म-रक्षाकी चेष्टाने अनिवार्य रूपसे विरोधकी सृष्टि की, बैर उत्पन्न किया। और आज रूसको खुलकर इस राष्ट्रीयताके दुर्वृत्तमें जुत जानेको बाध्य हो जाना पड़ा है।

फैसिस्टवाद रूसी समाजवादका ही नग्न बालक है। यह समाजवाद बाहरसे परात्मक, परोपजीवी आदर्शके कपड़े पहने था, पर भीतर वह सर्वथा राष्ट्रीय ही था। आज सोशलिज़्म और नेशनल सोशलिज़्मका अन्तर निरर्थक हो गया है। प्रतिष्ठाका वह पर्दा फ़ाश हो गया है। फैसिज़्म भीतर-बाहरसे एक प्रखरतम सत्य है। वह पाखण्डी नहीं है, सर्वथा ईमानदार है, इसलिए असद् शक्ति होते हुए भी, तमाम बुर्क़ापोश राष्ट्रोंके तुच्छ, मिथ्या-जनित असत्यसे आज वह बराबर लोहा ले रहा है। सत्य और असत्यके युद्धमें असद् असत्यपर, यह असद् सत्यकी आंशिक विजयकी सूचना है। इसलिए अन्योंकी अपेक्षा, प्रकृतिके नियम-विधानमें यह अधिक नैतिक बात है। समाजवादके नग्न बालक फैसिस्टवादने अपने पिताके कपड़े उतारकर अपनी वंशानुक्रमिकता और नैतिकताको सिद्ध कर दिखाया है। समूचे मानव-इतिहासके द्वन्द्वात्मक दुश्चक्रकी उसने मुक्त आत्म-स्वीकृति कर दी है। इस-लिए औरोंकी अपेक्षा वह निरपराध है। पर ऐसा कहकर हम हिटलरकी दानवता या असद् शक्तिका अभिनन्दन या पूजन नहीं कर रहे। हम उसको मानव-कल्याणके लिए अभीष्ट माननेवालों में नहीं; और न अन्ध शक्ति-पूजामें ही हमारा विश्वास है। बल्कि हमारा तो यह मानना है कि हिटलरने हिंसाका जो ज्वालागिरि जगाया है, एक दिन उसे स्वयम् उसमें

भस्मसात हो जाना पड़ेगा। पर हिंसा और मौतकी आसुरी शक्तियाँ स्वयम् जिस हिटलरमें मूर्तिमान हुई हैं, उसकी मौतका क्या सवाल उठ सकता है ?

लेकिन एक-निष्ठ सत्यके उपासक होनेके कारण साहस-पूर्वक अपनी सत्य-मीमांसा प्रकट करनेको हम बाध्य हैं। हम कहना चाहते हैं कि या तो हमें सद् सत्य-शक्तिका प्रतीक गांधी समझमें आता है या असद् सत्य-शक्तिका प्रतीक हिटलर ! पर ये बीचवाले जो असद् भी हैं और असत्य भी, ये हमारी समझमें नहीं आते। इनका कोई मूल्य नहीं, ये क्षयके कीड़े हैं। हिटलर धोखा नहीं है; वह अनावृत सत्य है। बर्बर वह है, नीपीड़क अत्याचारी वह है, पर वह एक साहसिक नैतिक अपराध है, जो चुनौती देकर सामने खड़ा है और हमें अवसर है कि हम उसका प्रतिकार करें, शोध करें।

तो इस सारी सत्य-मीमांसामें, हमने आजकी मनुष्य जातिके पराभव और संहारके मूलमें, भीतर-बाहरके तीव्र द्वन्द्वको ही पाया। द्वन्द्व जीवनके किसी भी क्षेत्रमें हो, संसारके सारे दर्शन-चिन्तन, विज्ञान और कलाकी उद्भावना, सारे धर्मों और आदर्शोंकी प्रतिष्ठा, इसी द्वन्द्वको मिटाकर कल्याण-मय संतुलन-साधनके लिए हुई है। पर इस संतुलन-साधनमें जो सबसे बड़ी सावधानी लेनेकी आवश्यकता है, वह यह है कि द्वन्द्वके दोनों ही पक्षोंका सार्वदेशीय, सापेक्ष विचार होना चाहिए। किसी भी पक्ष अथवा तत्वकी अनजाने भी उपेक्षा हो जानेसे बड़ा अनिष्ट हो सकता है। संघर्षके बीचों-बीच रहकर, उसमें अभिभूत होकर या उससे सीधे प्रभावित होकर, कोई भी साधक द्वन्द्व-विसर्जनका समीचीन विधान नहीं कर सकता। संघर्षाभिभूत साधक वीतराग तत्व-चिन्तामें समर्थ नहीं हो सकता। संघर्षसे सीधे प्रेरणा लेनेवाले चिन्तक, मार्क्सके समान अपनी तात्कालिक परिस्थितियों और वास्तविकताके प्रति एक बौद्धिक समन्वय या संतुलनका मार्ग ही खोज पाते हैं। पर यह संतुलन घायल बुद्धिसे उत्पन्न होनेके कारण प्रतिक्रियाशील

होता है। अनेक मिथ्यात्वोंके कारण होनेवाली धार्मिक विडम्बना ही जब अपने आसपासके जगतमें हो रहे संघर्षके मूलमें मार्क्सको दिखाई पड़ी तो वह सबसे पहले धर्म और उसके मूल आदर्श आत्माका ही घोर विद्रोही हो उठा। यानी संतुल-साधनाका यह अनुष्ठान तत्व-द्रोहसे ही आरम्भ हुआ। आत्व-तत्व अथवा स्व(Self)की सर्वथा अवज्ञा हुई। फिर समताका विधाता यह दर्शन, आचरणमें आनेपर समताकी सृष्टि करनेमें कैसे सम्पूर्ण सफल होता।

इसीलिए यह आवश्यक है कि समताके संदेशवाहक इन वीतराग तत्व-चिन्तकोंको योगी होना पड़ता है। अनासक्त साधनाके सिवा समताकी वह पारदर्शिनी, दिव्य दृष्टि प्राप्त हो ही नहीं सकती। विश्व-इतिहास के अतीत अन्तरालमें दूर तक दृष्टि दौड़ाएं तो हम पाएंगे, कि संसारके क़रीब-क़रीब सभी ज्योतिर्धर थोड़े समयके लिए, सत्य और प्रकाशकी खोजमें, प्रत्यक्ष जगत्से दूर एकान्तमें साधना करने चले गए थे। प्रत्यक्ष जागतिक उलझनों पर केवल बौद्धिक विचार करके ही या वस्तु और जगतसे सीधे रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करके ही उन्होंने समताके प्रकाश-सूत्रकी उपलब्धि नहीं की थी। आत्म-केन्द्रीकरणके द्वारा समग्रका, सारी तत्व-सृष्टिका उन्होंने अपने भीतर साक्षात्कार किया था।

आधुनिक मनोविज्ञानके एक प्रकाण्ड साधक श्री जंग महोदयने, इन्हीं अनेक द्वन्द्वोंकी मनोवैज्ञानिक परीक्षा करते हुए, स्पष्ट रूपसे स्वीकार किया है कि द्वन्द्वोंके निराकरणकी दिशामें चूड़ान्त साधना आज तक संसारमें, भारत-वर्षके वेदान्तमें ही हुई है। भारतके 'ब्रह्मन्' और चीनके 'ताओ'(Tao) जैसे ऐक्य-साधनाके आध्यात्मिक और धार्मिक प्रतीकोंमें ही द्वन्द्वोंके संतुलनकी उत्कृष्ट सिद्धि उपलब्ध हो सकी है। जंग महाशयके विचारमें वेदान्त द्वारा निरूपित द्वन्द्वोंके योग-साधनकी यह 'ब्रह्मन्' की परिकल्पना सर्वथा मनोवैज्ञा-निक है। साथ ही उन्होंने यह भी स्वीकार किया है कि कलके बुद्धिवादी

और प्रत्यक्षवादी पश्चिमकी संतुलन-साधनाकी सारी विचार-सरणिका, भारत-वर्षकी उस भव्य ब्रह्म-चिन्ताके समक्ष बच्चोंके खेल-सी जान पड़ती है।

आधुनिक मनोविज्ञानके मूल्योंका मान-दण्ड सापेक्षता, सार्वदेशीयता और सार्वकालिकता है। वृहद् मानव इतिहासमें फैले हुए मानव मनके अनेक द्वन्द्वोंके पर्य्यवेक्षण द्वारा तथा दैनिक जीवनमें व्यक्तियोंके प्रत्यक्ष मनोवैज्ञानिक विश्लेषण द्वारा, आधुनिक मनोवैज्ञानिक अपने परिणाम स्थिर करते हैं। भौतिक विज्ञानकी तरह मनोविज्ञान केवल विश्लेपणात्मक नहीं है; बल्कि विश्लेषणके बाद एक संश्लेषात्मक दृष्टिसे समग्रकी संधिमें वह इकाईका मूल्य निर्धारित करता है। इसीलिए मनोविज्ञानने भौतिक-विज्ञानकी बनिस्बत अधिक व्यापक और दूर तकके सत्यका आकलन किया है। मनोविज्ञानके क्षेत्रमें आज जो विचार-धारा सर्वोपरि होकर दिखाई पड़ रही है, वह यही है कि इस स्व-पर (**Subject-Object**) के चिरन्तन संघर्षमें (चाहे फिर वह व्यक्ति-जीवन, समाज-जीवन, राष्ट्र-जीवन या विश्व-जीवनमें हो) संतुलन उत्पन्न करनेके लिए धार्मिक प्रतीककी पुनर्प्रतिष्ठा ही एक मार्ग है।

धर्मके उच्छेदकी दिशामें अग्रणी पश्चिमके चिन्तकोंकी विचार-धारा आज लौटकर जिन कूलोंपर टकरा रही है, उनका भान हमारी तरुण पीढ़ीको नहीं है। पश्चिमके राजनैतिक मत-वादोंसे सीधे प्रभावित होकर, मात्र सतहपर के प्रत्यक्ष सत्यको सोचकर ही हम संतुष्ट हो जाते हैं। हमारी शताब्दियोंकी गुलामी और निपीड़नने, हमारे पूर्वजोंकी परोक्ष दर्शन-चिन्ताकी धीर-गंभीरता से हमें वंचित कर दिया है। हम तो प्रत्यक्ष संघर्षका सीधा इलाज़ चाहते हैं, सो परोक्षपर अपना सारा हतवीर्य क्रोध उंडेलकर, उसे इनकार करके हमने अपनेको दोष-मुक्त कर लिया है। "धर्म ही सारे उपद्रवोंकी जड़ है—वह मानवताकी अफ़ीम है"—आदि पश्चिमसे आई हुई आवाज़ें आज हमारे मस्तिष्कोंसे मात्र प्रतिध्वनित हो रही हैं। पर रूसी क्रान्तिका स्वयम्भू विधाता वह ट्राट्स्की स्वयम् अपने रूसी क्रान्तिके इतिहासमें लिख गया है कि—"अतीत समयकी तरह

धर्मके कारण परस्पर युद्ध न होकर, आधुनिक कालमें सिद्धान्तोंके आधारपर संघर्ष हुआ करेंगे।" तात्पर्य यह है कि संघर्षका उत्तरदायित्व सम्पूर्णतः धर्मपर लादकर उसे मिटा देने की बात करना तो वैज्ञानिक मनोवृत्तिका परिचय नहीं देता। यह तो अलिप्त विचार नहीं है, बल्कि विकृत और आक्रोषपूर्ण चिन्ता है।

अन्तमें हमें यह जान लेना है कि वाद कोई भी अभीष्ट नहीं। बुद्धिने वाद बनकर अपनी ही सीमा बांध दी है, और इसी कारण—बुद्धिवाद स्वयम् अनेक नवीन संघर्षोंका जन्मदाता हो गया है। अब आत्माके बोध-गम्य ज्ञान मन्दिरमें हमें संश्लेष की, संधि की, ऐक्यकी साधना करना है। बुद्धिवाद या अमुकवाद आज हमारे मूल्योंका माप-दण्ड नहीं होना चाहिए। वादमुक्त, सापेक्ष सामंजस्यकी निर्लिप्त दृष्टि ही आगामी कलके नवविश्व-निर्माणके लिए इष्ट है।

आत्म-निर्माण और विश्व-निर्माण

[एक प्रासंगिक बात-चीत]

एक शाम एक लेखक मित्र आए। बहुत व्यस्त थे—बहुत जल्दीमें। बिना सँवारे अस्त-व्यस्त बाल कपालपर आनेको छोड़ दिए गए थे—कि मानों सुध लेनेका अवकाश ही कहाँ है; पर क्लीन-शेविंगकी स्निग्धतामें कोई कसर नहीं थी। आधी अस्तीनकी कॉमरेड-फैशन क़मीज़पर रशियन काटका जैकट—नीचे पाजामा। कलाईपर घड़ी और हाथमें चमड़ेका बेग ठीक अपनी जगहपर था। इधर वे बहुत दिनोंमें दीखे थे, सो मैंने सहज कुशल पूछना चाही। उत्तरमें उन्होंने मुझे तलब किया और बोले—'पहले यह बताओ, साहित्यकी लिखाई-विखाई कैसी चल रही है?' मैंने कहा—'लिखाईकी अनावश्यकता इधर बहुत तीव्रतासे अनुभव कर रहा हूँ, क्योंकि यह लिखाई अनजाने ही हमारा भोग और परिग्रह भी हो रही है। और साहित्यिकताको, जिसे अच्छे कपड़ोंकी तरह अपने ऊपर पहनकर, उसमें हमने अपनी दुर्बलताओंको छुपा लेना चाहा है, मैंने अपने ऊपरसे उतार फेंका है। इस मानीमें

लिखना अब बहुत कुछ ग़ैर-ज़रूरी मालूम होने लगा है, और साहित्यिक अब मैं नहीं रह गया हूँ।'

मुझपर हँसकर मेरे मित्र बोले—'तो क्या अपने श्रम-जीवी लेखक-संघके तत्वावधानमें साक्षरता-प्रसार और पाठक-वर्ग-विस्तार कर रहे हो ?' मैंने कहा—'बड़ा भाग्य मानता अपना, यदि वैसा कर पाता; पर संघ बनाते समय केन्द्रमें वह व्यक्तित्व नहीं था—जिसमें संघका आयतन बननेकी क्षमता होती और जिसमें से संघकी वे जड़ें फूटतीं, जिनसे रस पाकर ऊपर संघका वृक्ष फूलता-फलता। इसके अभावमें संघ मर गया। बात असलमें यह है कि हम व्यक्ति-घटककी चिन्ता किए बिना ही, संघसे शुरू करते हैं। बस यहीं ट्रैजडी हो जाती है। यह संघ शून्यमें होता है—और वहीं निष्फल होकर विसर्जित भी हो जाता है। व्यक्ति अपना आत्म-निर्माण करे, संस्था उसमेंसे आप फूटेगी और ऐसी संस्था स्थायी भी होगी। पर बाहरसे यह जो संस्था और संघ हम स्थापित करते हैं—वे तो पाषाण-मूर्तिकी स्थापनाकी तरह होकर रह जाते हैं। उनमें प्राणकी उर्वर शक्ति नहीं होती, वे वृक्षकी तरह निरन्तर वर्द्धमान और फलवान नहीं होते। तब वह पत्थरकी मूर्ति हमारे निरर्थक अहंकार और आत्म-पूजनका प्रश्रय-स्थल बनती है। परिणाममें हाथ लगती है विफलता और आत्म-हत्या। पहले एक व्यक्तित्व अपने आपमें एक सक्षम आकर्षणका केन्द्र बने, फिर आस-पासके वातावरणमेंसे अपने सजातीय परिमाणुओंको वह अपने आप खींच लेगा। अनजाने ही वह निर्माण समष्टि-गत हो चलेगा—और संस्थाएं तो अपने आप उसमेंसे कई फूट निकलेंगी।'

मित्र घबड़ा उठे और बोले—'इसका अर्थ यह कि कोई भी Collective: Activity (सामुहिक प्रयत्न)—निरर्थक है—व्यक्ति अपने आपमें पर्याप्त है ?' मैंने कहा—'नहीं, व्यष्टि और समष्टिके बीच ऐसी कोई सुनिश्चित सीमा-रेखा खींचकर मैं नहीं देख पाता। भेद तो व्यक्त जगत के व्यवहारसे है। निश्चय दृष्टिसे तो व्यष्टि और समष्टि अभिन्न हैं। इसलिए

व्यष्टि अपने अन्दर अपने आपके प्रति समर्पित हो रहे—तो उसका मतलब शून्यमें खो जाना है। व्यष्टिकी पूर्णता तो समष्टिको अपने अन्दर पूर्ण उपलब्ध या आत्मसात् कर लेनेमें है, फिर समष्टिकी ओर उन्मुख न होकर व्यष्टि की आत्म-साधनाका क्या मूल्य है। पर उस साधनाका सही मार्ग क्या है, यही तो विचारणीय है। समष्टि सीधे बाहरसे पहुँचकर तो प्राप्त नहीं की जा सकती; अपने भीतरके प्रवहमान चेतनके योगसे उसे पाना होगा। इसीलिए सोचता हूँ कि हम बाहरकी संगठन-वैज्ञानिक क्रियासे समष्टिका शरीर खड़ा करनेके बजाय, अपने चैतन्यकी प्रवहमान शक्तिको हीं, निसर्ग क्रियासे, समष्टि-शरीरके रूपमें परिवर्धित होने दें। इस प्रकृत प्रक्रियासे निष्पन्न समूहकी देह-प्रणालीमें, एक जीवित Organism होगा; वह प्रगति-शील होगा और परिणामी भी होगा। इसीसे कहता हूँ कि सामूहिक प्रयत्न तो अपने आप फलित होगा, जड़ें तो व्यक्तियोंके निर्माणसे ही फूटेंगी। मज़दूर लगाकर मिट्टी और पत्थरोंका वर्षों ढेर लगाते जानेसे पर्वत नहीं बन सकेगा, वह तो टीला ही बनेगा और कालांतरमें ढह भी जाएगा। पर्वत तो पृथ्वीके प्राणके अनुरोधसे उभरकर ही अचलकी संज्ञा प्राप्त करेगा। इसलिए मेरे नम्र विचारमें, केन्द्रीय व्यक्तित्वकी शक्तिके बारेमें आश्वस्त होनेके पहले, बाहरके किसी सामूहिक प्रयत्नसे शुरू करना सही रास्ता नहीं है। अपने अनुभवसे मैं जानता हूँ—इसीलिए अपने चैतन्यकी शक्तिको जगानेमें लगा हूँ।'

मित्रने सुनकर निर्णय दिया—'साफ़ है कि यह तुम्हारा Defeatism (पराजयवाद) है—संकीर्णता है। तुमने दायित्वोंसे मुँह फेर लिया है। तुम दो-एक बार साहित्यिक-सङ्गठन करनेमें विफल हुए, इसीलिए यह प्रतिक्रिया तुममें हुई है। सम्भव है तब तुम्हें सभा-सञ्चालनके क़ायदोंका अनुभव न रहा हो—इसका अर्थ यह नहीं कि एक सामूहिक प्रयत्न ही ग़लत है। और तब क्या मैं यह मान लूँ कि कल यदि मैं नगरके लेखकोंकी मीटिंग बुलाऊँ तो तुम उसमें नहीं आना चाहोगे?' मैंने कहा—'सभा-सञ्चालनके क़ायदे

शायद जड़की बात नहीं हैं, उनका मैं क़ायल भी नहीं—और उनमें बाहर से शिक्षा लेनेकी कोई इच्छा भी मुझे नहीं है। पराजित होता तो उसे भी स्वीकार करनेमें मुझे लज्जा नहीं होती। पर हाँ, वह रास्ता ग़लत था यह मैं ज़रूर जान गया हूँ। और इसीलिए अपनी ग़लतीको मैंने स्वीकार कर लिया है। और यह नगरके लेखकोंकी मीटिंग बुलाकर तुम क्या करना चाहते हो?'

बोले—'लेखकों संगठित होनेकी ज़रूरत है। साहित्यके नवीन मूल्यों के बारेमें विचार-विनिमय ज़रूरी है—उसी संगठनके लिए इस मीटिंगको होना है।'

मैंने कहा—'इस तरहके संगठनोंमें मेरी आस्था नहीं है। क्योंकि जिसके लिये हमें वहाँ मिलना है, साहित्यके उस प्रयोजनके प्रति हम निष्ठा-वान् और ईमानदार नहीं हैं। आज हम हृदय-रक्तके अनुरोधसे साहित्य नहीं लिख रहे हैं। यह साहित्य हमारे आत्मोत्सर्गकी वह दीप-शिखा नहीं है—जो होकर ही उसे साहित्यकी संज्ञा प्राप्त हो सकती है। साहित्य लिखनेमें शग़ल और शौक़का तक़ाज़ा अधिक मालूम होता है। हम उस क्लास (श्रेणी)में शुमार होना चाहते हे। जैसे राजनीतिमें देश-भक्तों और नेताओं का एक क्लास है—जिसमें महज़ शुमार होकर अपने अहंको गौरवान्वित करनेवालोंकी संख्या देशमें कम नहीं है। पर मीटिंगका सफल संचालन कर लेने और धुआँधार भाषण देकर जनताको उभाड़ देनेमें ही देशके कल्याण और मुक्तिका मार्ग नहीं है—'

मित्र बीच ही में बोल उठे—'तब तो तुम बाहरकी सारी सामूहिक हलचलोंको निरर्थक मानते हो—और अपने आस-पास Shell (खोल) बनाकर उसमें अपना विकास कर रहे हो।'

मैंने कहा—'सो तो ठीक पता नहीं—कि इस Shell की सीमा कहाँ है? मैं तो इस खुले आसमानके नीचे, निरावरण पृथ्वीकी गोदमें, मुक्त वायुकी तरंगोंपर, फलते-फूलते वृक्षोंसे घिरा, आस-पासके मनुष्योंके सुख-दुखोंसे सम्वे-

दित और संस्पर्शित होकर ही अपना विकास कर रहा हूँ। आप जिस Shell की बात कह रहे हैं—वह और कहाँ हो सकती है—सो तो मुझे ठीक-ठीक नहीं मालूम। मैं तो इतना ही कहना चाहता हूँ, कि यह साहित्य हमारे बौद्धिक विवादोंका विषय बनकर निर्जीव हो गया है। अब जीवनकी कोई अर्थ-क्रिया अथवा प्राणका योग उसमेंसे जैसे चुकता जा रहा है। मनुष्य मनुष्यसे सीधे नहीं मिल पा रहा है। हम जब समयान्तरसे मिलते हैं तो परस्पर कुशल पूछने–या एक दूसरेके सुख-दुःख जाननेके पहले ही–अपनी नवीन रचनाओंकी आत्म-प्रशंसाकी टकराहट शुरू कर देते हैं। हृदयसे हृदय का योग हो, उसके पहले ही मस्तिष्कोंकी रगड़ शुरू हो जाती है। मानो मिलना एक सूक्ष्म ईर्ष्या, प्रतिस्पर्धा अथवा संघर्षकी भावनासे प्रेरित है—उसमें प्रेमका अनुरोध नहीं है। हमारे भीतरकी हार्दिकता, सहवेदन और सहज मनुष्यताका ह्रास हो गया है। इसीलिए साहित्यिक और उसके आस-पासके जीवन-जगतके बीचका, प्राणका सतत प्रवहमान श्रोत सूख गया है। हम निःसहाय पड़ौसीकी पीड़ाकी कराह की सहज उपेक्षाकर, सड़कमें अपने पैरोंके पास मरते पड़े आदमीको अपनी मौत मरते छोड़कर, अपने नए सिल्क के कुरतेमें लैस किसी कवि-सम्मेलनमें जाकर 'विश्व-वेदना' की कविताका गान कर सकते हैं। जीवनके साथ इस जीवित सम्पर्कके अभावमें, हमारी ये बड़ी-बड़ी कही जानेवाली साधनाएँ हमारे अहं-पोषणका साधन मात्र रह गई हैं। हमारे भीतरका मनुष्य मर गया है—और बाहरके जगतमें हम 'मानवता' की प्रस्तर-मूर्ति बनाकर उसका पूजन कर रहे हैं। हम अपने भीतरके मनुष्यको जिलाएं, महा-मानवता और विश्व-मानवताके प्रति यही हमारा सबसे बड़ा अर्घ्य-दान होगा। इसी मूल तत्वके अभावमें तो देशमें साहित्यकारोंके संगठन और संस्थाएँ नहीं बन पा रही हैं। जो अखिल देश-व्यापी साहित्यकी संस्थाएँ हैं—वे सत्ताधारी, सत्तासेवी और पूँजीप्रश्रयित 'बुर्जुआसी' के सार्वजनिक जीवनका विलास-क्रोड़ बनी हुई हैं। और तरुण साहित्यकारोंकी कई

परिषदें, संसदें और कॉनफ़रन्सें एक-एक बार एकत्रित होकर अपनी विफलता के रिकॉर्ड बना चुकी हैं । इसके मूलमें मैं एक ही बात पाता हूँ कि हममें साध्यके प्रति आत्म-विसर्जनका भाव नहीं है, और साध्य जब स्वयं हमारी दृष्टिसे ओझल हो रहा है तो समर्पण हो किसके प्रति। जीवित समष्टि बहुत दूर पड़ गई है, इसीलिए तो वहाँसे प्राणका सञ्चार होकर हमारे ये सङ्गठन जीवन्त नहीं हो पाते। अन्तरङ्गमें जब हम जुड़े नहीं हैं—एक दूसरेकी व्यथा-वेदनाके प्रति बेसरोकार हैं—तो बाहरके 'सांधे' और सङ्गठनसे जुड़कर हम कै दिन इकट्ठा रह सकेंगे ? कहाँ है वह प्रेमका एक-निष्ठ सुनहला सूत्र-बन्धन ?'

मित्रको प्रयोजन था अपनी मीटिंगसे—जिसके कि नेतृत्वका सङ्कल्प लेकर वे चले थे। उतावले होकर वे बोले—'यह रोमांटिक है—इस जीवित सम्पर्कका क्या अर्थ है, यही नहीं समझमें आ रहा है। आपको यह जानना चाहिए कि जितने मनुष्यत्वकी बात आप कह रहे हैं, उतना मनुष्य हुए बिना तो आदमी कवि और साहित्यकार हो ही नहीं सकता—यह तो एक वैज्ञानिक सत्य है। फिर आप किसे 'मनुष्यता' कहना चाहते हैं—यही समझ में नहीं आ रहा है—?'

मैंने कहा—'निखिल जीवनके प्रति उन्मुखता। जीवनमात्रके प्रति हमारी आत्मामें प्रेम और आत्म-दानका अनिवार्य अनुरोध। क्षण-क्षण हमारी चेतनामें जीवन-जगतके प्रति सम्वेदन और स्पन्दन्। मैं कहना चाहता हूँ—हमारी आत्मामें शाश्वत् जागृत् एक चिरन्तन अनुभूतिकी लौ—जो अलिप्त है; निष्कपट भावसे जो अमंद, अकम्प हमारे भीतर जल रही है; जो आत्म-व्यामोहका काजल नहीं उगलती, मुक्त प्रेमका प्रकाश बिखेरती है। वह अनुभूति जिसमें जीवन मात्रकी वेदनाका सम्वेदन और अनुभव अपने आप सतत् हो रहा है। प्रेमके कोमल-करुण गीत गानेवाला भावुक कवि यदि अपने पड़ोसी और मित्रके दुःखसे सहज निरपेक्ष होकर 'विश्व-वेदना'

और 'विश्व-क्रान्ति' के तूफानी गीत लिखनेमें लगा है, तो उसे मनुष्यताके विपर्ययका एक दयनीय व्यंग चित्र कहनेके सिवा और मैं कह ही क्या सकता हूँ। रोमांटिक यह है या मेरा कथन है, सो तो आप ही सोच देखें। और क्या यथार्थ है वह साहित्यके मूल्योंपर बौद्धिक खींचा-तानी, निरन्तर वाद-विवाद, मत-संघर्ष और समस्याएं ?'

मित्र झुँझलाये और बोले कि—'आखिर तुम्हारा मतलब यही है न, कि तुम मीटिंगमें नहीं आओगे, और अपने आपका निर्माण तुम अपने एकांतमें करनेमें लगे हो। लेकिन इस आत्म-निर्माणकी कसौटी क्या समूह ही नहीं है ? क्या आत्म-कल्याण घरकी चहार दीवारीमें हो कर लोगे ?'

मुझे हँसी आए बिना न रही। मैंने कहा—'सभा और संगठन ही तो समूह और समष्टि नहीं हैं ! आस-पास जो यह पाड़-पड़ौस है, मोहल्ला है, समाज है, जीवन है, और चारों ओर जो यह प्रकृतिका अपार विस्तार है, यह क्या आत्म-निर्माणकी कसौटी और समाधिके लिए पर्याप्त नहीं है ? इससे सायुज्य और प्राणका योग पानेके लिए क्या किसी साहित्य-सभाकी बहसका माध्यम अनिवार्य है ?'

मित्र बोले —'यह तो स्वार्थकी बात हुई। आप अपना निर्माण शायद कर भी लें, पर और लोग भी हैं जो अपना निर्माण आप करनेमें समर्थ नहीं हैं। क्या उनकी मददके लिए यह ज़रूरी नहीं है कि सामूहिक प्रयत्न हो ?'

मैंने कहा—'घूम-फिर कर बात फिर वहीं आ गई है। इसीलिए तो कहना चाहता हूँ कि साहित्यको कर्माश्रित हो जाना चाहिए। यह हमारी तात्कालिक ज़रूरत है। इस कर्मका रूप होना चाहिए आत्म-प्रेरित, स्वेच्छ-तया लोक-सेवा। यह हो हमारे साहित्यकी शर्त, उसकी प्रेरणाका उद्गम। यहाँ से जो साहित्य-द्रव्य आएगा वह खरा होगा, निष्कपट होगा और नितांत आवश्यक होगा। जीवनसे सम्पर्क पानेका अर्थ यही है कि जिसे हमारी ज़रूरत हो उसे हम तत्काल सुलभ हों—अनाहूत उस ओर खिचे चले जाएँ।

सामूहिक प्रयत्न तो आवश्यकताके परिणाम-स्वरूप अपने आप रूप ले लेगा। गांधीकी आत्माके मर्मपर जब सबसे पहला आघात लगा था, तब वह हिन्दुस्तान के हृदयका प्रभु और प्रतिनिधि नहीं था। वह अकेला व्यक्ति गांधी था। उसने प्रतिक्रिया-जनित हिंसाके क्षणको थाम लिया और उत्तर दिया आत्म-बलकी निरुत्तर, शांत खामोशीसे। दूसरे ही क्षण गांधी महामानव हो उठा; वह शक्ति-रूपसे अपने आपमें मानव मात्रका हो गया। एक क्षणमें गांधीका निर्माण हो गया। समष्टिके हृदयपर साम्राज्य स्थापित करनेवाला, वह अहिंसाका अमोघ सुदर्शन चक्र उसके हाथ लग गया था। पर उसके आत्म-निर्माणकी इस मर्म-कथाको तब कौन जानता था, दक्षिण-अफ्रिकामें, भारतमें और सारी दुनियामें? उसके बाद शक्तिके उस केन्द्रीय ध्रुव गांधीमें से सामुहिक आंदोलनके स्रोत अपने आप फूट निकलते हैं—संगठन अपने आप होने लगते हैं। एक अन्तर-मुहूर्तमें, अपने भीतर ही आत्म-निर्माण हो गया, व्यक्ति विश्व हो गया। पर कितने लोग गांधीकी महानताके उस मार्मिक जन्म-क्षणको चीन्हते हैं? बड़े-बड़े सामूहिक प्रयत्नों और देश-व्यापी आंदोलनोंके संचालनमें ही तो अधिकांश लोग गांधीकी महानता और आत्म-निर्माणका दर्शन करते हैं। पर हमें यह नहीं भूल जाना है कि ठीक उस पहले क्षणके बाद वे जो सहस्र-सहस्र मनुष्य, मस्तकदान पर्यन्त अपने अधि-कारके लिए जूझनेकी प्रतिज्ञा लेकर चले थे उनका नेता व्यक्ति गांधी था! व्यष्टि और समष्टिकी इसी मौलिक आत्मीयता और परस्परापेक्षिताको हमें पहचान लेना है। इसीमें सारी बातोंका हल है। व्यक्तिकी रगड़ या व्यक्तिके दुःखमेंसे ही विश्व-वेदनाकी थाह हमें मिल सकती है। इसलिए व्यक्तिके दुःखकी उपेक्षा करके विश्व-वेदनाकी खोजमें हम न जाएँ। वह कहीं मिलने-वाली नहीं है। गांधीकी वह पहले क्षणकी वेदना व्यक्तिकी वेदना थी और अगले क्षणकी वेदना विश्व-वेदना थी—जिसमेंसे महान् विश्व-प्रेमकी ज्योति का जन्म हुआ और गांधी मानव मात्रका वन्दनीय प्रभु हो गया।'

मित्र बोले कि 'यह सब ठीक है, लेकिन आज हमें फ़ासिज़्म के खिलाफ़ आवाज़ उठाना है। चारों ओर देशमें उसके लिए कॉनफ्रेंसें हो रही हैं--और हम कैसे चुप रह सकते हैं। और देशमें ये जो इतने लोग फासिस्ट-विरोधी कॉनफ्रेंसें कर रहे हैं वे क्या ईमानदार नहीं हैं? क्या हम रोम्या-रोलां जैसे महान् साहित्य-मनीषीको फासिस्ट-केन्द्रोंमें सड़ते देखकर चुप रह सकते हैं?'

मैंने कहा--'फासिस्ट-विरोध क्या हमारे नारोंसे हो जाएगा? और फ़ासिज़्मको जन्म जिन्होंने दिया है और आज समस्त देशका प्राण जिनकी कृपाके अधीन मौतकी अन्तिम साँसें ले रहा है—उनके बारेमें क्या हम अत्यन्त विश्वस्त और निश्चिन्त हो गए हैं कि वे ही नवीन विश्व-व्यवस्था और विश्व-शांतिके एकमेव स्वयम्भू प्रभु हैं? बंगालका दुर्भिक्ष और हमारी मातृ-जातिके सर्वस्वका अन्नके दानोंके लिए खुले बाज़ार विक्रय क्या हमारे हृदयके खूनमें उबाल नहीं उठाता? पड़ोसके गरीब मोहल्लोंमें लोग भूख और रोगसे त्रस्त हैं और हम साहित्य-सभाके बीच फ़ासिस्ट-विरोधके नारे लगाकर साहित्यके नवीन मूल्योंपर वाद-विवाद करना चाहते हैं! गांधीको हम कारागारमें सड़ने दे सकते हैं—पर रोम्या रोलांको मुक्त करानेकी चिन्ता सर्वोपरि हो पड़ी है। प्रेमयोगी रोम्या रोलांकी महानताके प्रति शतशः बार हमारी वन्दना है, पर अपनी मुक्तिके लिए उन्हें हम जैसे दुर्बलों और दम्भियोंकी ज़रूरत नहीं है। और यह निश्चय जानिये कि हम अपने नारोंके इस गगन-भेदी अरण्य-रोदनसे रोम्या-रोलांको मुक्त करानेमें ज़रा भी मदद नहीं करेंगे। यदि हमारी असलियत वे जान लेंगे, तो हमारे इस मिथ्या आचरणसे उनकी आत्मा प्रत्युत दुखेगी।'

मित्रने तुरन्त अपना चमड़ेका बेग उठाया और आवेशमें आकर सीढ़ियाँ उतर गये। मैं लाख क्षमा माँगता रहा--नमस्कार करता रहा--पर उन्होंने कोई उत्तर नहीं दिया। मेरा तिरस्कार करके वे चले ही गए--क्योंकि उन्हें मेरी साहित्यिकतासे प्रयोजन था, मनुष्यतासे नहीं।

★

साहित्यकार संघर्षके सम्मुख

आज साहित्यका कोई भी प्राणवान सर्जक किसी अपने ही आत्मिक एकांतमें बैठकर, बहिर्जगतके संघर्षोंसे नितान्त अछूता रहकर साहित्य-साधना नहीं कर सकता। लोक यदि सत्य है और साहित्यकार यदि अपनेको लोक-जगतका प्राणी मान लेनेकी ईमानदारी रखता है, तो लोकाकाशका कोई अंश आज ऐसा नहीं बचा है, जिसे निखिल सृष्टिमें तात्विक रूपसे चल रहे इस संघर्षके वात्याचक्रने अशांत न कर दिया हो। लौकिक मानवकी तो बात दूर रही, वह अलौकिक कही जानेवाली मुक्ति और उसके वासी मुक्तात्माओंकी सत्ताका मूल्य भी, लोकसे नितान्त परे होकर तो हमारे लिए शून्यके बराबर है। फिर लोकमें रहकर तो साहित्य-कारके लिए, उसकी सारी बाह्य प्रकृति और उसका आकाश, आज उसीके रक्त और उसीकी मृत्युसे आच्छादित हो गया है। यह कहकर मैं कविके अन्तर्मुख दर्शन या अन्तर्लोककी अवज्ञा नहीं कर रहा हूँ, न आकाश या

प्रकृतिकी तात्विक अलिप्तता पर अश्रद्धा कर रहा हूँ। पर कहना चाहता हूँ कि साहित्यकार या कविका अन्तर्देवता मानवके चोलेमें रहकर, मानव मात्रपर छाई इस मरण-वेदनाके प्रति अवरुद्ध नहीं रह सकता। इसीलिए यह और भी अधिक सत्य है कि कुछ साधक अपनी अन्तर्मुखी साधनासे, इस प्रलयमें खो रही आत्माके चैतन्यको, इस घूर्णीचक्रमेंसे बचाकर हमें लौटाएं, हमें फिर चेतन करें। पर साहित्यकारके लिए बाह्यसे नितान्त विमुख होकर, उदासीन होकर यह सब साध्य न हो सकेगा। वह योगियोंका मार्ग है; हर साहित्य-चिंतक उस आत्म-दर्शनकी दुहाई देकर अगर अपनी तन्हाईको बेदाग़ और बेदख़ल समझनेमें गर्क़ हो रहा है, तो वह झूठ है, वह दम्भ है, वह आत्म-हत्या है। आत्म-साम्राज्यकी सीमामें प्रवेश पा जानेवाले योगी अरविन्द भी इस बाह्य वास्तविककी अवज्ञा करके, महज़ अपने मौनमें समाधिस्थ नहीं हो गए हैं। बाहरके गतिमान विश्वकी हर क्रिया-प्रतिक्रिया, प्रक्रिया, हर स्थूल घटना, आन्दोलन और उसके परिणामके प्रति अपनी सम्पूर्ण चेतना और कर्मसे वे सावधान हे।

पर इसका अर्थ यह नहीं कि साहित्यकारको, बाह्यके अन्ध विस्फोटमें जन-सागरके इस तूफ़ानकी गतिका अंश मात्र बनकर ही रह जाना है। जीवनकी गतिके प्रति ईमानदार हम हों, यह ठीक है, पर साहित्यकारको तो स्रष्टा होकर विवेकवान भी होना है न। मनुष्यको मनुष्य होकर तो प्रगति-शील होना है न। गतिके विभिन्न विरोधी और संघर्षाभिभूत मार्गोंसे जीवन को मोड़कर उसे निखिलके कल्याणकी धुरीपर हमें सुसंवादी बनाना है। जीवनकी गतिमें जो नाशक और तीव्र विषमता आ गई है उसे हमें सम बनाना है। भीतर-बाहरकी समस्वरताका जो सूत्र भंग हो गया है, उसे हमें फिरसे जोड़ना है।

अपने अन्तर्मुखी जीवनमें हमें अपनी आत्मस्थताकी खिड़की परसे सारे बाह्य संघर्षका एक अनासक्त दर्शन चारों ओरसे करना है। और

फिर यदि हो सके तो उसके बीचसे शांतिका मार्ग खोज निकालना है। अपने बहिर्मुख जीवनमें, अपने भीतरकी समस्त चेतनाको जागृत रखकर, इस संघर्षके बीचोंबीच उतरकर उसके कषाघातोंको और उसकी तीखी धाराओं को भी अनुभव करना है। लेकिन उस अनुभूतिकी तीव्रतम वेदनाको तुरन्त किसी प्रतिक्रियामें भी नहीं उगल देना है, उसे पचा जाना है। हमें आग और विष पी जानेकी आत्मिक सामर्थ्य भी अपने भीतर उत्पन्न करना है। इन आघातोंको पचाकर, विवेकपूर्वक इनके मौलिक प्रतिकारकी धीर-गम्भीर और अपराजित तैयारी भी हमें अपनी आत्मस्थताकी खिड़कीपर करना है। यह खिड़की बमके बदले बम बरसानेका मोर्चा नहीं है, यदि हो सके तो हम वहांसे प्राण-प्राणकी मूल आत्मीयताका अमृत बरसाएं। यह काम किसी योगीके बाद सीधे लोक-हृदयकी धरतीपर केवल साहित्यकारके ही द्वारा सम्भव है। न तो यह काम केवल तलवार लेकर मानवताके भाग्य-विधानका दावा करनेवालोंके बसका है और न राजनीतिकी डोरियाँ हिलाने-वाले चतुर शातिरोंके बसका। हमें मृत्युके बदलेमें, खण्डित व्यक्ति-जीवनका दान करके भी, विश्व-मानवताको जीवन-दान करना है। साहित्य और कला-सर्जना सम, निर्माण और कल्याणकी तपःपूत साधना-भूमि है। वहाँ हमारा ज़िम्मा संघर्षके वास्तविक सूत्रधारोंसे ज़्यादा बड़ा है। संघर्षका सूत्र-धार तो पक्ष विशेषके हितमें संघर्षके सफल संचालनका ज़िम्मेवार है। पर योगी, प्रकाश-दृष्टा कलाकार और सर्जकको संघर्षकी कड़ी नहीं बन जाना है—उसे तो संघर्षको उलट देना है। उसे अपनी जानकी क़ीमत पर भी संघर्षके दुर्वृत्तको भंग कर देनेके लिए तैयार रहना है। यानी संघर्ष के छोरको—उसकी जड़को—पकड़कर मानव-जातिके समर्थ नेताओंके हाथ मे सौंप देना है, ताकि एक सिरेसे वे सारी अव्यवस्थाको पुनर्व्यवस्था दे सकें। मानव जातिके इतिहासमें अपूर्व-भूत, आजके इस युद्ध-संहारके युगमें, साहित्य-कारके कर्तव्यका धरातल मेरे नम्र विचारसे यही हो सकता है।

साहित्यकी चिन्ता अनुभूतिकी श्रोतोमयी भूमि पर होती है। इसीलिए साहित्यकारका अन्तर्लोक एक मानीमें बोधिसत्वके समतामय ज्योतिर्लोक सा होता है। संघर्ष तो उसके आस-पास अनेक विपरीत वेगोंमें लहरा रहा है; पर साहित्यके केन्द्रीय प्राणके निकट पहुँचकर वे सारे विप्रवेग जैसे सम होकर उसमें लीन होते नज़र आते हैं। राजनीतिक, अर्थशास्त्री और वैज्ञानिक, जगतको सतहपरके यन्त्रकी तरह परात्मक रूपसे ही समझता, सुलझाता और फिर उलझाता है। मस्तिष्कके तर्कसे वह उसे जांच कर, उसके बारेमें अपनी तार्किक तश्खीस पेश करता है। फिर उसके अनुरूप ही एक तर्क-प्रधान सैद्धांतिक नुस्खा तजवीज़ करता है। आत्मविश्वाससे स्थिर हृदयकी भूमिपर किसी स्वात्मक अनुभूति–चेतना से जगतके साथ आत्मीयताका अनुभव वह नहीं करता। साहित्यकारका सबसे बड़ा मापदण्ड या बोध-यन्त्र हृदय है; इसीलिए सबसे पहले वह स्वात्मक है। पर जगतके साथ इस स्वात्मक आत्मीयताकी सर्वव्यापिनी अनुभूति पानेके लिए साहित्यकारको, अपने वैयक्तिक जीवनके आंशिक सम्बन्धोंमें, अपनेको सकीर्ण अहं और आत्मलिप्सासे बचानेके लिए परात्मक द्रष्टा भी होना है। अर्थात इस व्यापक 'वसुधैव कुटुम्बकं' के विराट चेतना-स्तरपर जीवन जीनेके लिए उसे जगतका अनासक्त द्रष्टा होना अनिवार्य रूपसे आवश्यक है। असलमें ज़रा गहरे उतरकर देखा जाय तो साहित्यकार तो अपनी स्वात्मकताकी ईमानदार और ऊर्जस्वल साधनामें ही, विकासके चरम बिन्दुपर पहुँचकर, अनायास ही एक अनासक्त द्रष्टा हो उठता है। उसकी एकतान स्वात्मकताकी सतत साधनामें अनासक्ति छायाकी तरह उसके पीछे अपने आप ही प्रतिफलित होती चलती है। विश्व-सृष्टिके साथ इस मूलभूत एकात्म्यकी साधनामें साहित्यकार निष्प्रयोजन है। इस सम्बन्धका पल-पल अनुभव, संचय और दृढ़ीकरण ही उसका साध्य और साधन एक साथ है। उसका सबसे बड़ा मूल्य या प्रयोजन प्रेम है, आचरणमें उसे ही मनुष्यता कहते हैं। इस प्रेम या मनुष्यताका मूल्य साहित्यकारके लिए निरपेक्ष रूपसे

(Absolutely) सच है। इस सम्बन्धके निकट सारे तात्कालिक परिस्थिति—जन्य (भौतिक, राजनैतिक, आर्थिक, राष्ट्रीय, कलात्मक) मूल्य गौण हैं। कह सकते हैं ये सभी मूल्य उसी मनुष्यता या प्रेमके विभिन्न दैहिक अंग हैं जो उसीकी रक्षाके लिए उसीसे मूल्य पाते हैं। अपने आपमें इनका कोई मूल्य नहीं। इनमेंसे एक विशिष्ट आंगिक मूल्यके लिए—मसलन अमुक राजनीतिक, राष्ट्रीय, या कलात्मक प्रयोजनकी तात्कालिक पूर्तिके लिये—साहित्यकार मनुष्यता या प्रेमके इस परम सम्बन्धको आँच पहुँचानेका अपराध न करेगा।

मानव-जीवनका ऐसा कोई अंग विशेष, जब कभी किसी तात्कालिक प्रयोजनका आग्रह लेकर मनुष्यके जीवनकी क़ीमतपर भी मनुष्यकी छातीपर अपनेको प्रस्थापित करनेको दुर्दम हो उठता है, वहां साहित्यकारकी अन्तिम प्रेम-शक्तिकी परीक्षाका क्षण आ पहुँचता है। राजनीति, अर्थशास्त्र और विज्ञान सभी के अपने आंगिक दायरे बन गए हैं। वहाँ उनके प्रयोजन या प्रेरणा उस विशिष्ट कार्य-सिद्धिसे सीमित हो जाते हैं। वहाँ मनुष्यका मूल्य भी एकबारगी ही गौण हो जाता है। ये सारे युद्ध-संघर्ष इसी प्रकारके अति परात्मक (Objective) हो पड़े अंग विशिष्टकी उत्कटता और प्रभुत्वसे संचालित हैं। स्वात्मक आत्मीयताका वहाँ सर्वथा लोप हो जाता है। प्रधानतः राजनीतिकता और उससे उत्पन्न होनेवाली शक्ति-पूजा तथा शासन-वासना; आर्थिक शक्ति और उससे निपजने वाले वैभव-मद, भोग-सामर्थ्य, तथा व्यावसायिक सम्बन्ध; राष्ट्रीय व्यक्तिमत्ता और जातीयताका आत्यंतिक दुरभिमान; ये सब तत्व अपने ही में स्वयं साध्य हो उठते हैं। और उनके बीच जब संघर्ष उत्पन्न होते हैं, तो आधुनिक महा-युद्धोंका स्वरूप धारण करते हैं। वहाँ मनुष्यता या प्रेमका मूल्य सापेक्ष हो पड़ता है। अपने आपमें उसका कोई मूल्य नहीं रह जाता।

पिछले महायुद्धके बाद जब रूसमें सर्वहाराकी क्रांति हुई, तो सर्वहाराके उद्धारका मानवीय मूल्य—वह मूलभूत मानव-कल्याणकी प्रेरणा—उस वर्ग

विशेषकी भौतिक व्यक्तिमत्ताकी प्रस्थापनाके विजय-मदके नीचे दब गई। मनुष्यताकी क़ीमत केवल सर्वहारा वर्गकी अपेक्षासे सीमित हो गई। फिर मनुष्य मात्रके कल्याणका स्वप्न उसमें कैसे देखा जा सकता था ? सर्वहाराकी क्रांतिकी मानवीय क़ीमतने समस्त यूरपके स्वतन्त्र चिंतकोंको एक ज़मीनपर बर्बस ला खड़ा किया था। सर्वहारा वर्गकी सत्ताके प्रयोजन द्वारा जब उसी मानवीय क़ीमतकी खिल्ली उड़ाई जाने लगी और उस प्रयोजनकी फाँसीपर खुले दस्त मनुष्यताको टांगा जाने लगा, तो रोम्यां रोलां तथा उनके साथ यूरपके अनेक स्वतन्त्र-चेता साहित्यकारों और चिंतकोंने, जिन्होंने पहले क्रांतिके मानवीय सत्यके समक्ष अपने सारे स्वतन्त्र चिंतनकी बलि चढ़ा दी थी, उस मनुष्यताकी हत्याके ख़िलाफ़ विद्रोहकी आवाज़ बुलन्द की। उन्होंने क्रांतिके महान सत्यको स्वीकार किया अवश्य, पर मनुष्यकी स्वाधीन चिन्ता और चेतनाकी क़ीमतपर नहीं। और तो और, वह अपने ही हृदयकी रक्तधारासे क्रांतिका साहित्य-यज्ञ रचनेवाला, रूसका लाड़ला वाणी-पुत्र गोर्की भी उस मानव-हत्याके प्रति क्षुब्ध होकर विद्रोही हो उठा। वह रूस छोड़कर चला गया। यह सब इसलिए सम्भव हुआ कि साहित्यकार जगतका बोध, हृदयमें होकर पाता है। वह किसी भी काल, देश, लोक या युगके बन्धनोंसे बँधकर नहीं बोल सकता। वह तो जन्मतः, स्वभावसे ही अविच्छिन्न आत्मीयताका साधक योगी होता है। प्रेम उसका अन्तर्देवता होता है, इसीलिए वह स्वभावसे ही अहिंसक होता है। अनीश्वरवादी कवि शैले तथा भयानक बुद्धिवादी बर्नार्ड शॉ जन्मजात मांसाहारी होकर भी, अपने विकासोन्मुख जीवनमें क्यों अनायास ही शाकाहारी हो उठे ? तर्क यहाँ पराजित है, इसीलिए सारे प्रश्न यहाँ आकर निर्वापित हो जाते हैं। साहित्यकार आत्म-साम्राज्यके अखण्ड चक्रवर्तित्वका दावेदार होता है। इसीलिए वह किसी सिद्धांत या देश-कालकी कितनी ही बड़ी परिस्थितियोंके तक़ाज़ोंको मानकर भी, विवेक-पूर्वक उनका साथ देकर भी, वह प्राण-प्राणकी आत्मीयताके इस देवासनपर समझौता

नहीं कर सकता। यह उसका अस्तित्व-धर्म है। आज तकके मानव-इतिहास के आलोकमें कहीं भी आप इस सत्यको जांच देखिए, इसपर तर्क नहीं हो सकेगा। इस मूल भूमिपर आकर वह पूर्ण स्वात्मक द्रष्टा होकर जीवनका अनासक्त योगी हो जाता है। यहाँ आकर स्व तथा पर का भेद लोप हो जाता है।

महायुद्धसे रक्तस्नात यूरपमें जब रूसी क्रांतिके कल्याण-यज्ञमें भी मनुष्यताकी बलि अनिवार्य मानी जाने लगी तो उसके सम्मुख यूरपके महान साहित्य-योगी रोम्यां रोलांने विद्रोहकी पुकार उठाई। उसका ज़िक्र करते हुए उन्होंने अपने **'I will not rest'** में लिखा है—'उन बरसोंमें [१६२१-१६२२] अविश्रान्त रूपसे मैंने हिंसाके प्रति मानवी चेतनाके इस आत्म-समर्पणके खिलाफ़ आन्दोलन किया—वह हिंसा जो युगके उस उन्मादमें मात्र एक हथियार ही नहीं बल्कि ध्वजा मानी जा रही थी। इस हिंसाके खिलाफ़ मेरा विद्रोह यदि एक ओर यूरपके स्वतन्त्र क्रान्ति-चिन्तकोंकी बोल्शेविक दमन-पीड़ितोंके विरुद्ध की गई अपीलोंसे पोषण पा रहा था, तो दूसरी ओर मेरे अत्यन्त विश्वसनीय मित्रोंके क्रुद्ध होकर रूससे लौटनेपर उनसे सुने हुए वर्णनों द्वारा और गोर्कीके पत्रों द्वारा पोषण पा रहा था। गोर्की स्वयं भी बड़ी ही कटुता, निराशा और मानसिक सन्ताप लेकर कुछ समयके लिए रूस छोड़कर चल दिए थे। चिन्तनकी स्वतन्त्रता ही उन दिनों सर्वोपरि होकर मेरी ध्वजा बन गई थी। तब म यह भी नहीं चाहता था कि वह संघर्षसे अपनेको अलहदा रखनेका एक मात्र बहाना बनकर रह जाए। उसके विपरीत वैयक्तिक चिन्तनके स्वातन्त्र्यका यह झण्डा मैं सर्वहाराके संघर्षके मस्तक पर उड़ाना चाहता था। लेकिन सर्वहाराके सिपाही किस क़दर अथक रूपसे इसे कुचलते-फाड़ते हुए आगे बढ़ जाना चाहते थे! समूहकी अन्ध-शक्तियों से बेहद प्रभावित होकर वे वैयक्तिक विवेक अथवा बोधको पर्याप्त मूल्य देना भूल गए थे।'

इस प्रकार रोम्यां रोलां और उनके नेतृत्वमें यूरपके सभी स्वाधीन चिन्तकोंने उस समय निष्क्रिय चिन्तनकी ताड़ना करते हुए, क्रान्तिके उस महान् सत्यके आगे अपना मस्तक नत किया था अवश्य। पर साथ ही उन्होंने मानव-हत्याके उस बर्बर आयोजनके प्रति अपनी कठोर भर्त्सना और तीव्र ग्लानि भी प्रकट की थी तथा मनुष्यके स्वतन्त्र वैयक्तिक बोध और चिन्तनके जन्म-सिद्ध अधिकारकी घोषणा की थी।

यदि हो सके तो युद्धकी इस विभीषिकाके सम्मुख, हम भी अपनी इस स्थिति और दायित्वको पहचाने। इस दु:सह कुरूपतामें से जो प्रखर सत्य प्रकट हो रहा है उसके प्रति हम ईमानदार हों। जिस धरतीपर जन्म धारण कर हम जीते है, जिस मानवताके रक्त-मांसमें से हमने शरीर पाया है, पोषण पाया है, और विरासतमें अक्षय ज्ञान, संस्कृति और साहित्यके भण्डार पाए हैं, उसी मानवताकी मरण-पीड़ा और नवजन्म-धारणाकी इन खतरनाक और नाजुक घड़ियोंमें हम उसके बीचोंबीच अपनेको पाएं। आज हमारे हृदयकी समस्त सञ्चित कोमलता, प्रेम और ऊष्माकी अग्नि-परीक्षाकी गम्भीर घड़ी आ पहुँची है। इस प्रखर सत्यकी सूलीपर अपने नग्न हृदयोंको बिंधवाकर भी आज हमें मृत्यून्मुखी मानवताको अमृत और तेजका दान करना है। हमें इतिहासकी मर्ज़ीपर सिग्नेलिंग नहीं करना है, हमें इतिहासके दुश्चक्रको वहाँ से उलट देना है, जहाँसे वह गलत हो गया है।

किसी राजनैतिक सिद्धान्त या मतवादका झण्डा हमारे तथाकथित बुद्धिवादी और स्वतन्त्र मस्तकपर न गड़ा हो, यह हम ईमानदारीसे अपने ब्रह्मरन्ध्रमें विवेकका हाथ फेरकर टटोल देखें। किसी भी साहित्यकारका हृदय और मस्तिष्क यदि इस प्रकारकी किसी भी विशिष्ट राजनैतिक, आर्थिक या रूढ़ धार्मिक प्रतिक्रियाके केन्सरसे (Cancer) मुक्त है, तो उसकी आत्मा इस महान् युद्ध-संघर्षके पिछले मुर्दोंका भूत बनकर नहीं भटकेगी। बल्कि वह तो अपनी छातीपर क्रॉस धारण करता हुआ, पुरातनके इस हिंसाकी चीत्कारोंसे त्रस्त

अन्धकारके अनेक स्तरोंको चीरता हुआ, नवयुगकी प्रभात-तलहटीमें देवदूत की तरह प्रगट होगा। 'युद्धका अन्त करनेके लिए युद्ध' तथा 'जनताका संग्राम' के नारे लगानेवाले बंधु, निखिल मानव-हृदयके स्वामी साहित्यकार होकर, हिंसाके इस नाशमत्त दुश्चक्रमें से, अपने इस वैज्ञानिक कॉस-मॉसके जाने किस रेखा-गणितके बिन्दुपर मानवताकी मुक्तिका सपना देख रहे हैं ? यह तो किसी भी तर्क, विज्ञान और गणितसे नहीं समझमें आ रहा है।

साधारण जनके मनमें एक और भी स्थूल प्रश्न उठ सकता है: साहित्यकार आज किस साहित्यका सर्जन करे और किसका न करे ? अपने हृदयके स्वामी, इसलिए विश्व-हृदयका मर्म-स्पन्दन अपने प्राणमें पल-पल अनुभव करनेवाले साहित्यकारके लिए बाहरसे इसका कोई निश्चित विधि-निषेध नहीं हो सकेगा। केवल उसे अपने विवेककी साक्षीसे यह जान लेना है कि वह पलातक (Escapist) नहीं है। रक्तकी इस विप्लवी धाराके बीच खड़े होकर अपनी दूर-देशिनी प्रियतमाके प्रति प्रेमके गान निवेदन करना भी कोई अपराध नहीं है। सचमुच वह प्रेमका गान अणु-अणुके अन्तरकी संधि बनकर इस महा-अवकाशमें आत्म-दानके विनम्र आँसू बखेर चलेगा। क्योंकि उसी वायुमें तो अप्रेम और हिंसाकी पीड़ित मानवता साँस ले रही है। वह प्रेमकी ऊष्मा और आर्द्रता, वह प्रखरता, वह विह्वलता—वह पर्वतों, नदियों, सागरों, वनों, दिग-दिगन्तरोंको भेदकर प्राण-प्राणपर छा जानेवाली मानव-हृदयकी प्रेमाकुलता, क्या अनायास ही कहीं न कहीं जाकर उन जीवित, उत्पीड़ित मानवोंको स्पर्श कर नहीं पिघला देगी ? और उस दूरवर्तिनी अज्ञाता प्रियाकी खिड़कीसे यहाँ तक जो एक बलवान आकर्षणकी अटूट श्रोतोमयी डोरी बँधी है, क्या उस पर बैठकर कवि इन सत्यानाशकी लहरोंसे जूझता हुआ इनपर आरोहण करनेका बल न पा सकेगा ? कल तक दो व्यक्ति-हृदयोंके प्रेमकी कहानी लिखनेवाले साहित्यकारके हृदयको आज विशाल लोक-जीवनके अग्नि-कुण्ड की वेदना-वह्निमें तपकर अपनेको खरा, सच्चा, अक्षय और सर्वव्यापी प्रमा-

शित करना है। अपनी कथाके सत्व-रूप प्रेमको लोक-जीवनके अनेक सुख-दुखोंसे भरे विषम सम्बन्धोंके विस्तारमें फैलाकर उसकी अखण्डताकी परीक्षा करनी है। यदि कल तकके शान्त लोकमें साहित्यकार अपनी व्यष्टिमें डूबकर ही समष्टिको वहाँ उपलब्ध कर लेनेकी साधना कर रहा था, तो आज उसे समष्टिमें डूबनेका खतरा उठाकर अपनी व्यष्टिकी संचित प्रेम शक्तिको समष्टिके प्राणमें घुल रहे ज़हरमें छोड़कर उसे अमृत बना देना है। भीतर-बाहरकी इस समस्वरताके साधक हम विराट विश्व-हृदयकी बीनके वादक हैं, जहाँ जाकर सारे सुरोंका मोक्ष है। इसीलिए यदि हृदयसे हम मुक्त और ईमानदार हैं, तो अपनी खूब ही निष्ठुर और कड़ी परीक्षा ले देखें। यदि अपने अन्तर्मुखी जीवनमें हम प्रामाणिक और तन्मय हैं, तो बाह्यके प्रति अवश्य ही दायित्ववान और कर्तव्यशील होंगे। यहीं बहिर्जीवनमें हम कर्म-प्रवृत्त भी होंगे। कई बार अपने कमरेके एकान्तमें काम करता होता हूँ, और सड़ककी आवाज़ों और हो-हल्लेपर सीढ़ियाँ उतरकर किसी भी लड़ाई-झगड़ेके बीच अपनेको निष्प्रयोजन दखल देते हुए पाता हूँ। यही हमारे अन्तर्मुख और बहिर्मुख जीवनके सामंजस्यकी कसौटी है। जिस प्रेमके रसयोगी पुरुषार्थने उन शरद्-शीतला चाँदनी रातोंमें रासकी वह मोहनलीला रची थी, उसी प्रेमके कर्मयोगी पुरुषार्थने कुरुक्षेत्रके रणांगणमें पाँच-जन्यका नाद भी किया था। वह मूल हृदयकी चेतना यदि ईमानदार है तो साहित्यकारको भीतर-बाहरके अनेक विकल्पों और विवादोंमें पड़कर भटकनेकी ज़रूरत नहीं है। उसे इस संघर्षके शूलोंवाले मार्गपर प्रेमका संधि-सूत्र लेकर चलना है। यही उसकी सर्जना और उसके गीतकी प्राणधारा होगी।

एक ग़लत फ़हमीसे हमें और भी बच जाना है। संघर्षके बीचों-बीच अपनेको पानेका यह अर्थ नहीं कि संघर्षकी भौतिक कशमकशके बीच अपने सदेह व्यक्तित्वको आपाद मस्तक डुबाए रखकर हम इस व्रतका पालन करें। बल्कि संघर्षका केंन्द्र-बिंदु पानेके लिए आवश्यकता पड़ने पर हमें संघर्षके

आक्रांत स्थलको छोड़कर किसी ऐसे शांत, एकान्त स्थानमें भी जा पहुँचना होता है, जहाँ किसी विशिष्टके अंश मात्र न बनकर हम संघर्षकी सार्वदेशीय और व्यापक अनुभूति तथा दर्शन अधिकसे अधिक पूर्णतासे पा सकें। और तब वहाँसे किसी स्वस्थ, मुक्त और शान्त मार्गका विधान कर सकें।

रोम्याँ रोलाँने अपने 'I will not rest' में लिखा है—'उस संक्रान्तिकालमें गोर्की और मैं जब अपने-अपने देशोंमें उस ममताकी साधनाके सीधे प्रयत्नोंमें विफल हुए तो निराशाकी एक लहरसे आक्रान्त हो हमने अपने-अपने देश छोड़ दिए। गोर्कीने अपने ही ऊपर नहीं बल्कि समस्त रूस पर अधिक नैतिक प्रभुत्व पानेके लिए, तथा उसके भाग्यको अपेक्षाकृत अधिक अच्छी तरह समझकर उसके साथ तादात्म्य स्थापित करनेके ख्यालसे कुछ समयके लिए अपनेको रूससे निर्वासित कर लिया। और मैंने फ्रांससे छुट्टी ली—उस अन्धे और हठीले फ्रांससे जो तुरन्त ही बड़ी तेज़ीसे एक प्रतिक्रिया और नए युद्धकी दिशामें आगे बढ़ रहा था—बिना रुक सकनेकी संभावनाके। ३० अप्रैल १९२२ को मैंने सदाके लिए पेरिस छोड़ दिया और स्विटज़रलैंडमें जा बसा। इस चीज़ने मुझे इस योग्य बना दिया कि मैं एक प्रपीड़ित आत्माको—अपनी, यूरपकी और तमाम दुनियाकी आत्माको—जो एक सर्वव्यापी विप्लवके झोंकेसे त्रस्त थी, एक दिशा देनेके लिए, अपने प्रयत्नोंको केन्द्रीभूत कर सकूँ। पेरिससे मेरा जुदा होना [हर चीज़ सापेक्ष है] मुझे शेष दुनियाके अधिक निकट ले आया था।'

यह मानव-इतिहासका वही बिंदु है जहाँ आकर मानवताके सभी महाप्राण हितचिंतक और प्रकाश-द्रष्टा, संघर्ष-निवारणके लिए प्रकाशकी खोजमें, संघर्षकी लीला भूमि छोड़कर किसी सुदूर एकान्तमें कुछ समयके लिए निर्वासित हो गए थे। और वहाँसे प्रकाश पाकर वे लौटे तो जगतको मार्ग-निर्देश दिया। किसी संघर्षकी सरगर्मीमें हम इस निर्वासनको पलायन कहनेकी गलती न कर बैठें, बल्कि गहराईमें पैठकर इस मनोवैज्ञानिक और मार्मिक सत्यको पहचानें।

पर इसी स्थल पर साहित्यकारके लिए आत्म-परीक्षाकी कठिनतम कसौटी है। निर्वासनका यह मार्ग उसके लिए किसी कायर पलायनकी ओट न बन रहा हो, अपने इस खतरे पर उसके अन्तर्देवताको पहरा देना है, और चोरको पहचानकर पकड़ लेना है।

लेकिन इसका यह मतलब नहीं कि कलसे हर साहित्यकार अपने किसी ख्वाबके स्विटज़रलैंडकी फूल-घाटियोंमें निर्वासित होकर दूर-दूरसे युद्धकी रोमाण्टिक भर्त्सना करना शुरू कर दे। युद्धका प्रतिरोध भी युद्धसे दूर भाग कर नहीं हो सकेगा। यह तो एक अनिर्वार निष्ठुर सत्य है, जिसे ज़िन्दा छाती पर झेलकर ही जीता जा सकेगा। युद्धको पैदा करनेवाली पाशव शक्तियोंसे हमारे आत्मबलको लोहा लेना पड़ेगा। सत्वरूप प्रेमकी भूमि पर ललित वाङ्मयका सृजन करनेवाली हमारी कोमला अन्तश्चेतनाको आज आत्माकी वह सचैतन्य, सूक्ष्मतम पैनी धार बन जाना है, जो अभेद्य हिंसाकी चट्टान को अनायास ही काटती हुई, बर्बर आक्रमणकारीकी आत्माका द्वार मुक्त कर दे। यानी वहां प्रेमकी एक विवश, अधीर चेतना, एक विह्वल लौ-सी जल उठे। यह हो आजके हमारे साहित्य-निर्माणकी कसौटी और कर्म-क्षेत्रकी माँगका उत्तर। वास्तवकी ओर उन्मुख रहकर ही यह योग साध्य है, किसी कायरताकी ओटके मिथ्या वायव्यलोकमें यह संभव नहीं।

न तो हर साहित्यकार अपनेको योगी मानकर, कर्मक्षेत्र से पीठ दिखा, किसी एकान्तवासमें जा रहनेका हक़दार है और न हर साहित्यकार रोम्याँ-रोलाँ और गोर्कीकी जय बोलकर किसी निर्वासन द्वीपमें जा बसनेके दुःसाहस का ही अधिकारी है। इसमें तो वैयक्तिक विकासकी ऊँचाई, बोध और दर्शन का धरातल, व्यक्तिका नैतिक बल और आत्मानुशान आदि अनेक शर्तें हैं, जिनपर ऐसे क्रियात्मक निर्णय आधारित हैं। यह क्षणके आवेशों, रक्तके उन्माद, क्षणकी उमंगों और वासनाओंसे होनेवाले निर्णय नहीं हैं। ख्याल रहे यह प्रतिक्रिया नहीं—प्रक्रिया है।

कर्मक्षेत्रसे ऐसे साधकोंका दूर जाना, समूचे कर्म-यज्ञको अपने ही अन्दर प्रकाशित पानेकी साधना है। यदि वैसी बोधशक्तिका धरातल जीवनमें हम नहीं पा गए हैं, तो कर्मक्षेत्रसे अलहदा होना निश्चय ही पलायन कहा जायगा। ऐसी कोई भी दुर्बल अलहदगी वांछित नहीं। हम कर्म-क्षेत्रके बीचों-बीच रहकर अपने प्रेमके तारोंपर भीतर-बाहरके जीवनके सुर मिलानेकी चेष्टामें रत रहें। अपनी दैनिक सेवाएँ देकर, अपने बन्धुओंके साथ कष्ट-आघात सहन कर, मानवके ऊष्ण रक्तमें उससे सम्बन्धित रहकर हम उसका प्रेम संचय करें। फिर अपने भीतर उस प्रेमका विराटीकरण करके उससे सशक्त, जीवन्त साहित्यकी उज्वल मूर्तियाँ ढालें। साहित्य तो निश्चय ही आत्मदान और त्यागका उज्वल मार्ग है। जीवनके चौराहेकी किसी भी सूली पर साहित्यकारसे विसर्जन की माँग हो सकती है।

संघर्षकी इस विषमतम घड़ीमें कर्तव्यकी सबसे बड़ी पुकार साहित्य-मन्दिर के द्वार पर ही टकरा रही है। यदि हो सके तो सिद्धान्तों और पुरातन सँस्कार-मोहकी साँकलें तोड़कर तमाम हिंदुस्तानके साहित्यकार, प्रेमकी निरपेक्ष और अपराजित भूमि पर आ खड़े हों। जन-जनके बीचकी निरपेक्ष, अटूटनीय आत्मीयता ही उनका महान मन्त्रानुष्ठान हो।

बड़े बड़े सँगठनों, घोषणाओं, कॉनफ्रैंसों और दस्तखतोंकी ज़रूरत इसमें नहीं है। अपने संकल्पोंको अपने ही आत्म-बल पर तौल कर हमें चुपचाप अपना कर्तव्य करते चलना है।

★

साहित्य-साधना और मनुष्यता

साहित्यिक बननेकी साधना करनेके बजाय, कलसे यदि हम मनुष्य बननेकी बात सोचें तो अपना और जगत्‌का ज़्यादा कल्याण हो सकेगा। साध्य यदि आत्मा है, और आत्मामें होकर जगत् है, तो आत्मा और जगत्‌की प्रकृत एकताके बीच हम साधनोंकी अनावश्यक और जड़ शृंखलाको पुष्ट नहीं होने दें, यह सावधानी हमें सदा रखनी है। नहीं तो हम साध्यको बराबर चूकते ही जाएंगे, और साधनोंके मोहमें फँसकर विलास-लिप्साका ऐसा दलदल पैदा कर लेंगे, जिससे उबरनेकी बात सोचना ही फिर हमारे लिये दुश्वार हो जाएगा। फिर न आत्मा मिलेगी न जगत; रह जाएंगे केवल ये दो निर्जीव शब्द हमारे अहम्‌के खोखले शून्यमें भटकते हुए।

प्रसंग यों आया कि दो एक साहित्यिक मित्र कल मिल गए एक चौराहेपर। नए चलनकी पूरी साहित्यिक वेष-भूषा और ठाट-बाटसे शायद वे शामकी तफ़रीहको चले थे। मैं अपनी एक पड़ोसिनके लिए दवा लेने

बाहर निकल आया था। कपड़ोंका ख्याल कुछ था नहीं; उस निराधार बुढ़ियाका इकलौता लड़का विषम ज्वरमें बर्रा रहा था। साहित्यिक मित्रोंको देखकर जान बचानेकी इच्छा हुई। बिना इधर-उधर देखे अपनी राह तकता चला जा रहा था। तब तक तो पकड़ाईमें आ ही गया। एक मेरा हाथ झकझोरकर बोले—'कहो यार, बहुत दिनोंमें दीखे, मिलते ही नहीं हो आजकल तो—क्या बाहर चले गए थे? बीमार थे? अजब हाल हो रहे हो यार! आखिर बात क्या है—?' मैंने कहा—'नहीं तो, कुछ यों ही—जानते हो, ऐसे ही चलता है।' कैफियत अनावश्यक थी। कि दूसरे ही क्षण साहित्य-जगतकी बातें बौछारकी तरह मुझपर टूट पड़ीं। मैंने उनसे क्षमा माँगी और आज्ञा चाही। बोले—'भाई, अजीब हो गए हो तुम—बिलकुल हाल-बेहाल—किस दुनियामें हो आखिर? और बताओ साहित्य-साधना कैसी चल रही है?' मैंने कहा—'भाई, साहित्य-साधना अब मेरे बसकी नहीं रह गई है—और अपनी अयोग्यताको जान गया हूँ, इसीसे अपने आप वहाँसे छुट्टी ले ली है।' कहकर मैंने फिर क्षमा माँगी और छुट्टी चाही। पर मित्रको मुझपर दया आ गई थी—सो मेरे दोनों जुड़े हाथोंको अपने हाथमें पकड़ पानके रागमें झूमते ओठोंसे बोले—'हाँ यार, इधर तो अस्तसे ही हो गए हो बिल्कुल—कुछ लिखते ही नहीं—और इधर तो कोई साहित्यिक जमघट ही नहीं हुआ।' मैंने कहा—'हाँ, होना चाहिये अवश्य।' और अबकी बार और ज़्यादा लम्बा प्रणाम कर मैं अपनी राह बढ़ ही तो गया।

पाँच मिनिटमें ही ये सब बातें हो लीं। ध्यान दवाकी ओर था, इसलिये साहित्य और साहित्यिक मित्रोंकी बात बिल्कुल भूल जानेको विवश था। पर रात जब बिस्तरमें जाकर पड़ा तो दिन भरकी चर्यामें से जो चित्र मनपर कहीं कोई गहरी लकीर छोड़ गए थे, वे एक-एक कर उभर रहे थे। साहित्यिक मित्रोंकी बातने भी कुछ कठोर प्रश्न मनमें उठा दिए। मैंने कहा: ठीक तो कह रहे थे वे साहित्यिक मित्र—मैं कहाँ रह गया हूँ साहित्यिक

उनके अर्थमें ? क्योंकि न मासिक पत्रोंमें अपनी लिखाईकी धूम है, न पॉलिश-पोशाकका ही भान है, और न साहित्यिक मित्रोंकी मस्तीकी महफ़िलोंमें ही मैं शरीक हो पाता हूँ। दिन थे जब चायके प्यालों और हलुवे–नमकीनकी तश्तरियोंपर 'विश्व–राजनीति' और 'विश्व-साहित्यिकता' पर बड़ी ही तूफ़ानी सरगर्मियाँ होती थीं; और पानकी लज्ज़त और सिगरेटके धुओंमें साहित्यकी बारीकियोंपर बालकी खाल निकाली जाती थी। उन आयोजनोंकी रंगरेलियोंमें भी खूब ही शरीक हुआ हूँ। पर इधर दिन-बदिन उस दुनियासे दूर ही पड़ता गया हूं।

वह चारों ओरसे अपनी विवशता ही तो थी। अपनी कष्ट-यन्त्रणाकी रातोंको अकेले ही जब खूनके घूँट-घूँट पी गया हूँ, तो बाहरकी दुनियाकी खुशियोंके मेलेमें जाकर सुख खोजनेकी आत्म-छलना अब शायद मुझसे नहीं हो सकती थी। एक दिन बाहरसे एक समर्थ साहित्यिक मित्र आये और बोले कि—अपने आप में बन्द होकर यह सब मैं ठीक नहीं कर रहा हूँ—और अब हफ़्ते दो हफ़्ते मुझे उनके यहाँ चले जाना चाहिए—बाहरकी दुनियामें जाकर अपना खोया हुआ सुख और मस्ती खोजनी चाहिए, इत्यादि-इत्यादि...। मैंने उनके निमन्त्रणके लिए आभार माना और कहा कि अवकाशसे उनके यहाँ जाऊँगा अवश्य। वे बहुत हार्दिक, अभिन्न मित्र थे—पर इधर छः महीनोंसे जबसे मैं अपनी यन्त्रणाओंके नरकमें भटक रहा था, मित्रका कोई पत्र पानेका सौभाग्य मुझे नहीं प्राप्त हुआ था। क्योंकि मैं साहित्य और मस्तीसे बहुत दूर पड़ गया था, सो मुझे पत्र लिखकर वे क्या पूछते ? यही न कि मैं ज़िन्दा हूँ या मर गया ? मगर यह भी क्या पूछनेकी बात है ? यह तो Fact है, और गुज़र रहा है तो मान लेना चाहिए। मित्र पत्रकार हैं, नितान्त व्यस्त और लोकके सबसे महत्वपूर्ण आदमी। 'विश्व–युद्ध', 'अपूर्व नर–संहार', 'महा संघर्ष', 'विश्व-क्रांति' और 'नवीन विश्व-विचार' की चिन्तासे उनका जीवन क्षण भर भी तो खाली नहीं है।

एक व्यक्ति-मित्रकी मुसीबतका क्या मूल्य है, जबकि विश्व-युद्धमें करोड़ोंकी मृत्यु-संख्याका हिसाब नहीं है—और बङ्गालमें लाखों मनुष्य भूखके कारण कीड़े-मकोड़ोंकी तरह प्राण त्याग रहे हैं! मित्र इन विश्व-मानवताके संकटोंपर ओजस्वी सम्पादकीय लेख लिखें या मुझ व्यक्ति-मित्र के मरने-जीने और खुशी-खैरियतकी खबर जाननेके लिए पत्र लिखें? 'बल्कि मुझ जैसे दुर्बलके जीनेने तो जीवनको मँहगा बना रक्खा है। मैं अपदार्थ यदि मर ही जाऊँ तो अधिक जीने योग्य पुरुषार्थियोंके लिए आवश्यक स्थान रिक्त हो जाएँ।' पर मित्र मेरे यहाँ समवेदन और सहानुभूति देनेके प्रयोजनसे आये थे, और मुझे ज़िन्दगी और ज़िन्दादिलीकी शिक्षा दे रहे थे—कि उनके यहाँ कुछ दिनोंके लिये चला जाऊँ—और इस विस्तृत दुनियामें सुख और मस्ती खोजूँ; बंद रहकर तो शायद मैं आत्म-हत्या कर रहा हूँ—आदि-आदि; तब मैं उनके प्रति कृतज्ञता-के भावसे नम्र-विनम्र हुआ जारहा था। लेकिन मन ही मन मुझे हँसी आये बिना न रही। जब अपने दीर्घकालके अवर्णनीय दुख-कष्टोंका काल-कूट अकेले-अकेले ही घूँट-घूँट पी गया हूं—उन भयावनी रातोंमें, तो आज दिनके प्रकाशमें दुनियाकी अंजुमनोंमें अब अपना सुख मुझे कैसे मिल सकेगा, इसी बातपर मैं हैरान हो रहा। पर मित्र अभिन्न थे, बड़े भाई की तरह उनका मैं आदर करता हूं और वे विचारक हैं, इसलिए उनकी बात सिर झुकाकर मान ली। पर आत्मापर से जो मोहकी अँधेरी तहें मेरे संघर्षोंने छील दी थीं, उन्हीं रक्तसे लथ-पथ तहोंको और भी छीलते जाकर अपना सुख मुझे अपने अन्दर ही खोजना पड़ेगा, यह मैं अच्छी तरह जान गया था। वह सुख तो अपनी आत्माके सच्चिदानन्द रूपकी प्रतीति पानेमें है। संसार तो सदाका ही तमाशबीन रहा है। फिर सांत्वनाकी भीख मांगने मैं दुनियाके बाज़ारमें निकलूँ,—अपने मित्र द्वारा उपदिष्ट अपनी स्थितिके इस विडम्बना-चित्रपर मुझे बार-बार हँसी ही आती रही।

ये मेरे बड़े-बड़े मनस्वी मित्र, जो विश्व-विचारमें रत हैं, उनकी बुद्धि

और उनकी सामर्थ्यकी गुरुताके आगे मैं नत हूं। अपनी तुच्छता और नगण्यताको मैंने खूब ही समझ लिया है, इसीसे उपदेश देनेकी स्पर्धा करूं ऐसा मूर्ख भी मैं नहीं हूं। पर अपने तईंके लिए सोचने और अपनी राह बनानेका हक़ तो मुझे है ही। कष्टकी प्रखरताने आत्मापर जम रहे बहुतसे मिथ्या आवरणोंकी घुंडियाँ खोल दी हैं। इसीसे पिछले जीवनके अनेक सम्बन्धों, रास्तों और व्यापारोंकी निरर्थकता खुलकर सामने आ गई है। वस्तुओं और व्यक्तियोंकी यथार्थता नंगी होकर अन्तरके दर्पणमें अनायास झलक उठी है। और इसी कारण इन मिथ्यात्वोंसे उद्भूत जीवनकी अनेक विगत गति-विधियोंके प्रति मन ग्लानि और विद्रोहसे भर उठा है। अधिकांश तो पतझरकी ऋतु आनेपर अपने आप पक कर झरनेवाले पत्तोंकी तरह झर गये हैं, जिनका हिसाब नहीं है। न उनके बारेमें कोई सतर्क चेष्टा ही करनी पड़ी है। विद्रोह तो उन मूल्योंके केन्द्र उस मूर्छनाके अन्धकारके प्रति है, जो चेतनापर चिरकालसे गाढ़से गाढ़तर होता गया है। कुछ सोचना-विचारना है तो इसी अन्धकारको भेदकर अपनी राह बनानेके लिये।

इसीसे साहित्यके बारेमें बहुत चिन्तित और सावधान हो जाना पड़ा। क्योंकि साहित्यके द्वारा जीवनके मर्मकी व्यंजनामें से सत्यको पानेकी चेष्टा अपने प्राणके मूलमें मुझे पूर्व-संस्कारसे मिली है। उसकी सचाईके प्रति अविश्वासी मैं नहीं हो सकता। पर अब तक जो बहुतसे भ्रमके भँवर उस केन्द्रको लेकर उसके आस-पास पड़ गए थे, उनसे मैं अवश्य मुक्त हो गया हूँ; क्योंकि उनके भीतरकी झूठका पता मुझे लग गया है। अपनी आँखोंके आगे उनको व्यर्थ होते मैंने देख लिया है।

मैं कह रहा था कि हम साध्यको चूककर अनावश्यक साधनोंके परिग्रहको बराबर बढ़ाते गए हैं। इससे केन्द्रीय व्यक्ति-आत्मा और वाह्य जीवन-जगत्की आन्तरिक आत्मीयता लुप्त हो गई है। इसीसे साधनोंकी निर्जीव मूर्ति-पूजा बढ़ती जा रही है; उसमें साध्यके प्राणका आकर्षण संचारित नहीं होता।

हमारी सारी परमार्थिक साधनाएँ इसी सांघातिक रोगसे पीड़ित हैं, इसीलिए परिणाममें हाथ लगता है भ्रम और पाखण्ड। साहित्य भी इस ट्रेजेडीसे कहाँ बच सका है। साहित्यकी बात हम ऐसे करते हैं—जैसे अपने आपमें वह साध्य है, और उससे परे हमें और कुछ पाना नहीं है। साहित्य है और 'मैं' हूँ—इसके बीच कहीं जीवन-जगत् और आत्मा नहीं हैं। हैं, लेकिन वे उपकरण मात्र जिनसे साहित्यकी मूर्ति बनाना है। मूर्ति बन जानेपर तो हम उसीमें आसक्त हो रहे हैं—उसीमें तल्लीन। जिन उपकरणोंसे इसे बनाया है उनकी भी मांग थी, पर जहाँ पहुँचकर ही साहित्यका परिनिर्वाण है, उससे हमें कहाँ प्रयोजन है! वे तो मानों निर्जीव मिट्टी अथवा पत्थर थे जो साहित्य की मूरत बनानेके काम आ गए, इसीसे उन्हें धन्य और कृतार्थ हो जाना चाहिए। तो इस तरह हमने एक साहित्य-देवताकी स्थापना कर ली है, और उसीके प्रतिमा-पूजनमें हम दिन-रात लीन हैं। अपनी महत्ताके एक भव्य पाषाण-मन्दिरमें हमने उस देवताको प्रतिष्ठित कर दिया है, और वहीं दिन-रात साहित्य-साधनाका अनुष्ठान चल रहा है। मन्दिरके बाहर जीवन-जगत्का जो आर्त-क्रन्दन और कोलाहल है, उसे हम अपने साहित्य-देवताकी पूजामें नित्य-प्रति नैवेद्यके रूपमें अर्पितकर अपनेको सार्थक और कृतार्थ कर रहे हैं। हम 'विश्व-वेदना' का अखण्ड दीपक वहां जलाये हुए हैं! और अपनी आराधना से अवकाश पाकर जब कभी हम जीवन-जगत्के बीचसे गुज़रते हैं—तो हमारे पैर वास्तवकी धरतीसे तीन फीट ऊँचे अधरमें चलते हैं; और अपनी साहित्यिकताके गौरवकी चादर ढोनेमें हम इतने व्यस्त हैं कि अपने आस-पास देख सकना हमारे लिए साध्य ही कहां रह गया है। अपने पैरों तले हम नाना व्यक्ति-जीवनके कष्ट-क्रन्दनकी सहज ही उपेक्षा करके चल सकते हैं, क्योंकि हम साहित्यमें समष्टिकी कल्याण-साधनाका यज्ञ कर रहे हैं! अरे हम तो 'विश्व-वेदना' के गायक हैं, इस व्यष्टिके लिए रोनेसे क्या होगा? यह सब इसलिए कि उस साहित्य-देवतामें हमने अपने अहंकी प्रतिष्ठा कर रखी है,

और उसी अपने अहं पर आशिक़ होकर दिन-रात हम उसीकी उपासनामें लगे हैं। यह जीवन-जगत् और आत्मा तो उपकरण मात्र हैं।

जब हमारी साहित्योपासनाका यह निदान हाथ लगा तो इस पाखण्ड से मैं लज्जित और भयभीत हो उठा। और तब सोचा कि इस भयानक और दुर्दान्त धोखेका अन्त करना ही होगा। पहले अपने अहं को सूलीपर टाँगना होगा। इसीलिए उस साहित्य-देवताको प्रणाम कर महत्ता के पाषाण-मंदिरसे निकल आया हूँ। और अब यदि कहनेको मेरे पास कुछ है तो वह यही, कि साहित्यिक बननेकी साधना करनेके बजाय कलसे यदि हम मनुष्य बननेकी बात सोचें तो अपना और जगत्का ज़्यादा कल्याण हो सकेगा। साहित्य तो प्रसादकी तरह इस साधनाका नैसर्गिक दान होगा, उसकी चिन्ता करनेकी ज़रूरत नहीं है। भीतरके रसका सञ्चय हम करें, झरने तो अपने आप ही फूटेंगे। नलोंसे पानी लाकर झरने 'बनाए' नहीं जा सकेंगे; वे तो नल ही होंगे जो कभी भी बन्द हो सकते हैं।

स्व और पर (Subject-Object), आत्मा और जगतके सम्बन्धों का सम्यक् दर्शन और सम्यक् ज्ञान नहीं होनेसे ही इस मिथ्यात्व का जन्म होता है। बाहर और भीतरकी सम-स्वरता हम नहीं साध पाते। अपने मोह-जनित अहंको हमने आत्मा मान लिया है; और अपने इस अहं की सतत जागृत तृष्णाकी तृप्तिके लिए जगत्को अपने अधीन भोग्य-पदार्थ बनाए रखनेकी अपनी निरन्तर चेष्टाको हम अपनी आत्मा और जगत्का एकात्मीकरण मान बैठे हैं। इस चरम स्वार्थको हम नितान्त परमार्थके रूपमें देख रहे हैं। और अपनी इस पारमार्थिकताकी महत्तामें अपने आपको हमने बन्द कर लिया है।

इस अहंसे प्रेरित हमारा तर्क एकदेशीय हो गया है। अपने बारेमें हम ज़रूरतसे ज़्यादा विश्वस्त हैं। इसलिए उस ओर आँख उठाकर देखनेकी हम ज़रूरत नहीं समझते। हम ज्ञेयकी यथार्थ प्रतीति होनेके पहले ही अपने

आगे, विश्व-वेदनाका अखण्ड दीपक हम बराबर जलाए जा रहे हैं। अरे बुझा दो मिथ्याका यह अमाङ्गलिक दीपक! किसी पीड़ित-दुखीके घर जा कर आत्माके प्रेमका दिया सँजोओ। ओ पत्रकार, तुम्हारे ओजस्वी सम्पादकीय लेख की वाणी निर्जीव है, उससे विश्व-मानवताके मृतप्राय शवमें प्राण-संचार नहीं हो सकेगा! ओ विश्व-वेदनाके गीत गानेवाले कवि! तुम्हारे इन तूफ़ानी गीतोंसे ज़्यादा इन आस-पासके प्राणियोंको तुम्हारे स्नेह-ज्वलित कर्मकी ज़रूरत है! तुम्हारी वाणी उसीका निसर्ग परिणाम होना चाहिए, तभी तुम्हारे शब्द सिद्ध होंगे, और उनमें मृतोंमें प्राण-संचरण करनेकी मन्त्र-शक्ति जाग सकेगी।

इसीलिए अपने आपको विवश पाता हूँ कि साहित्यिक मित्रोंकी मस्तीकी महफ़िलोंमें शरीक होने लायक़ अब मैं नहीं रह गया हूँ। चाय-सिगरेट और पानके दौरमें तर्कके पंजोंपर 'विश्व-मानवता' रबरकी तरह तानी जा रही है, और लगता है इस खींचा-तानीमें टूट-टूटकर ही उसका अन्त हो जायगा। और जब रातको बिस्तरमें चाय और सिगरेटका नशा उतरता है, तो हम अपने भीतर एक निर्जीव अभावके खण्डहरको उसाँसें छोड़ते पाते हैं; हमारी विफल इच्छाएँ, और अन्त-हीन तृष्णाएँ, हिंसापूर्ण वैयक्तिक प्रति-स्पर्धाएँ और संघर्षित महत्वाकांक्षाएँ वहाँ भूतोंकी तरह लड़ रही हैं!

किसी साहित्य-गोष्ठीमें जब हम यों साहित्य और बुद्धिका विलास-व्यभि-चार करने जा रहे हों, तब सुनें कि हमारी निःसहाय विधवा पड़ौसिन अकेली अपने धुँधले चिराग़ वाले घरमें क्यों हिचकियाँ ले-लेकर दम तोड़ रही है! उस साहित्य-गोष्ठीमें जिनकी चर्चा होने वाली है, उन विश्व-वेदना और विश्व-क्रान्तिकी समस्याओंका मर्म त्राण यहां है—यहांसे पा सकेंगे हम उनकी सच्चाई। हमारी साहित्यिकताके प्रति सबसे बड़ी मांगकी पुकार यहांसे आ रही है। हम न जाएं उस साहित्य-सभामें, और चलें उस श्रमिक मोहल्लेकी ओर जहां अनेक मानव, विवश अपनी अनेक-विधि विषम यन्त्रणाओंमें। दिन-रात

जल रहे हैं। हम उनकी वेदनाको अपनी आत्मामें झेलें, और उस ज्वलन्त अनुभूतिमें से हम उस वेदनाके मूल कारणोंका निदान पावें। हम अपना प्रेम उनकी आत्मामें उड़ेलें, और वहांसे पायें हम अपने कर्मकी प्रेरणा, और अपने साहित्य-निर्माणके लिए तेज और शक्ति। तब होगी हमें विश्व-वेदनाकी प्रतीति, और तब हमें हक़ है कि हम विश्व-वेदनाकी बात करें। तभी हमारी क़लमसे वह तेज और वीर्य उतरेगा, जो विनाशकारी पूंजी-मूलक विश्व-व्यवस्थाकी धरतीमें विप्लवका भूचाल संचारित कर सके। तभी हमारी क़लमकी नोकसे क्रान्तिकी चिनगारियां फूट सकेंगी। आत्मदान साहित्यकी शर्त है; अपने अहंका पोषण और संचय करके—अनुभूति-संज्वलित, तपःपूत साहित्य-साधना नहीं, बुद्धिका अनर्गल विलास ही सम्भव हो सकेगा।

अंग्रेज़ीकी वह प्रसिद्ध मसल हम न भूल जाएं कि 'परमार्थका आरम्भ अपने ही घरसे होता है' (Charity begins at home)। हम देखें कि अपने कुटुम्ब, मित्र, पड़ोस, मुहल्ले, गांव-समाजके, हमारे आस-पासके जीवन-जगत्के प्रति अपनी इस मनुष्यतामें हम कितने दायित्ववान हैं? पर मैं अनुभवसे जानता हूं कि अपने बादके ठीक दूसरे आदमीको सम्मुख पाते ही हम शायद फेल हो जाएंगे। क्योंकि विश्व-वेदनाके दौरमें अपने आत्म-संकीर्तनके सिवा और कोई बात हमने कब सोची है? व्यक्तिकी वेदना मात्रको हमने अब तक निर्मूल क़रार दे रक्खा है; हम परस्पर साहित्यिककी हैसियतसे मिलते हैं, मनुष्यकी हैसियतसे कहां मिलते हैं? हम साहित्यके प्रयोजनको लेकर एक दूसरेके यहां जाते-आते हैं, पर जीवित मनुष्यताकी कशिश हमारे बीच नहीं है। और जब हमारा साहित्यिक प्रयोजन ही निर्जीव है—क्योंकि उसके साध्य आत्मा और मनुष्यताके प्रति हम ईमानदार और निष्ठावान नहीं हैं, तो उसकी मारफ़त मिलनेमें हमारा मानवीय मिलन कैसे सम्भव हो सकता है? जब हमारा साहित्यिक मित्र अपने किसी दुर्निवार कष्ट या संकटमें पड़ा है, और वह चायके रेस्तरां और साहित्य-गोष्ठियोंकी बौद्धिक चर्चाओंमें भाग

लेने लायक़ नहीं रह गया है, तब उसके घर जाकर उससे मिलने और उसकी कष्टकी घड़ीके हमसाया और सहयोगी होनेकी कोशिश हममें कहाँ है ? उसकी अपनी व्यक्तिगत तकलीफ़ है, वह हक़ीक़त है—और वह उसे देखे ! उसकी चिन्ता हम करें यह महज़ 'भावुकता' है ! अपनी तकलीफ़से जब वह मुक्त हो जीवनके बाज़ारमें आए, साहित्य-गोष्ठिमें मिले, साहित्यकी बात करने लायक़ हो जाए तब हमारा उससे प्रयोजन है । यह है वह तल, जिसपर हमारी साहित्य-गोष्ठियां और साहित्यिक-योग होता है—और उसमें फिर विश्व-मानवतापर प्रखर बौद्धिक चर्चाएँ । हम नशेकी उत्तेजनामें कल्पना और भावुकताकी बारीक-ख्यालियोंकी जालियाँ बुनने लगते हैं । पर कहाँ चला जाता है तब वह प्राणका सम्वेदन, जब दुःखके अन्धकारमें से प्रेमके ज्योति-दूतके लिए पुकार आती है ? घण्टों बाज़ार-चौराहोंपर रंगरेलियों और अाट्टहासिक गप्पोंमें हम गुज़ार देते है, पर मित्रके दुःख और पड़ौसीकी वेदना की खबर करनेका हमें अवकाश कहाँ ? क्योंकि हम जीवन-संघर्षमें लगे हैं और क्रान्तिकी बात सोच रहे हैं !

'विश्व-समाज', 'विश्व-व्यवस्था' और 'विश्व मानवता' की यह दाम्भिक दूकानदारी हम समेट लें, और कलसे हम अपने ही आत्म-निर्माणकी चिन्ता करें—अपनी राह बनाएं; और हम देखेंगे कि उसके फलस्वरूप समाज, राष्ट्र और विश्वका निर्माण अपने आप होता चलेगा । दुनियाको अपने आप रास्ता मिल जायगा, हम अपनेको प्रकाश बनानेकी साधना करें । अपनी बुद्धिकी लालटेन लेकर दुनियाको रास्ता दिखानेके लिए उसके आगे-आगे चलनेकी ज़रूरत हमें नहीं है । पथका दावा करना हम छोड़ दें, हम स्वयं पथ बन जाएं यही इष्ट है । युग-तीर्थंकर गाँधीने आजके युगमें यही कर दिखाया है । अतीतमें भी राम, कृष्ण, महावीर, बुद्ध और ईसाने यही किया । आप अपने आत्म-निर्माण और आत्म-कल्याणकी चिन्तासे प्रारम्भ करें, समष्टिका सच्चा निर्माण और कल्याण उसीमें निहित है ।

इसीसे मैं फिर दुहारनेकी धृष्टता करता हूँ कि साहित्यिक बननेकी साधना करनेके बजाय, कलसे यदि हम मनुष्य बननेकी ओर प्रवृत्त हों तो अपना और जगत्का ज़्यादा कल्याण हो सकेगा।

राह किधर ?

[बुद्धिवाद और धर्मपर एक प्रासंगिक विवेचन]

कहा जाता है कि आज युग बुद्धिवादका है। भावना और भावुकता इष्ट नहीं, क्योंकि वही सारी रूढ़ता, मूढ़ता और मिथ्यात्वकी जड़ है। भावना प्रवाही है, तरल है; जिस पात्रमें ढल जाय उसीका रूप ले लेती है। इसीसे उसका दुरुपयोग सहज सम्भव है। धर्म भावाश्रयी है, इसीसे धर्मके नाम पर अनेक मत-साम्प्रदाय बने हैं, पंथ चले हैं। धर्मकी इसी भावना-मूलकता के कारण उसमें अनेक अनिष्टकारी रूढ़ियों और मिथ्यात्वोंकी जड़ें गहरी हो गई हैं। इसी भावश्रयके कारण धर्मोंने इतनी विषमता, वैर-विरोध और मात्सर्यको जन्म दिया है। यह प्रवाही भावना, सत्यासत्य और इष्टानिष्टके निर्णायके लिए कोई ध्रुव मेरु-दण्ड नहीं प्रस्तुत करती। भावोत्तेजनासे ही धर्म के नाम पर खूनकी नदियाँ बही हैं; मनुष्य-मनुष्यके बीच घृणा और विद्वेषकी दीवारें खड़ी हो गई हैं। धर्मने मानवताको खण्ड-खण्ड कर दिया, उसने जन-जन को स्वेच्छाचारी और उच्छृंखल बना दिया। इसलिए भावना और

भावाश्रयी धर्म अब हमें नहीं चाहिए। वह रास्ता अपनी चरम विफलता साबित कर चुका है। सत्यका निर्णय बुद्धि-सगत तर्कसे ही हो सकता है। सत्य यदि भगवान है तो बुद्धि उस तक पहुँचानेवाली भगवती जगदम्बा। वही न्यायके सर्वोच्च सिंहासन पर आसीन है; और उसीके नाम पर युगका नवीनतम पंथ चल रहा है, जिसे बुद्धिवाद कह कर हम धन्य होते हैं। बुद्धिवादियोंका यह दावा है कि बुद्धिवाद एक सर्वसामान्य, निर्विरोध राजमार्ग है। बुद्धि एक-सूत्रताकी संस्थापक है। क्योंकि बुद्धि प्रत्यक्षको ही मानती है और उसके सारे निर्णय चूँकि प्रत्यक्षाश्रित तथा तर्क-संयोजित हैं, इसलिए बुद्धिवादमें मत-भेद सम्भव नहीं। मत-भेद तो परोक्ष सत्ताके कारण पैदा होते हैं। बुद्धि तो केवल प्रत्यक्षकी सत्ताको मानती है। प्रत्यक्ष सत्ता तादृष्ट इन्द्रिय-गम्य है, इसलिए वह सबके लिए सामान्यरूपसे अनुभवगोचर और ज्ञानगोचर है। इन्द्रियगम्य प्रत्यक्ष ज्ञानके परिणाम सब एक ही निर्णय पर पहुँचते हैं। विज्ञान प्रत्यक्ष पदार्थको विविध प्रयोगों द्वारा जाँचकर—विश्लेषित कर, अन्तमें ऐसे ही एक सामान्य निर्णय पर पहुँचानेवाली एक शुद्धतम ज्ञान-प्रणालीका नाम है। बुद्धि-संगत विज्ञान वस्तुके पारमार्थिक, तद्गत स्वरूपका हमें यथार्थ दर्शन कराता है, न कि स्वकेन्द्रित, अनिश्चित भावानुभव। इसलिए भावात्मक निर्णयोंकी तरह वैज्ञानिक निर्णयोंमें विग्रह, मतभेद और संघर्षकी सम्भावना नहीं है ?

भारतवर्षके लिए यह एकान्त बुद्धिवाद और वैज्ञानिक जागरण भले ही नया हो, पर पश्चिमी दुनियामें तो बुद्धिवाद अपनी तरुणाईको पार कर अब प्रौढ़से प्रौढ़-तर होता चला है। प्रश्न उठता है क्या वहाँ बौद्धिक और वैज्ञानिक प्रकाशकी इस महीयसी गंगामें, मनुष्य-जातिके अब तक के संघर्ष, विद्वेष और वैर-विरोध अंश मात्र भी विसर्जित हो सके हैं ? और उत्तरमें हम देखते हैं कि मानव जातिके विगत पुराण-इतिहासमें कभी न सुने गए—ऐसे महा संहारकारी नरमेधकी सहस्र-फणि रक्त-ज्वालाएँ पश्चिमके क्षितिज पर धू-धू सुलग

रही हैं। मनुष्य हिंसाके उन्मादमें स्व-पर हितका विवेक भूलकर आत्मा-नाशके अकाण्ड ताण्डवमें झूम रहा है। उसकी बुद्धि, विवेक सब कुछ मानो लुप्त हो गया है; शेष रह गया है केवल जय-पराजयका, मिटजाने या मिटा देनेकी हिंसा-प्रतिहिंसाका दुष्चक्र। और इन सुदूर समुद्रोंसे आरही अशेष चीत्कारोंकी तुमुल ध्वनिके सम्मुख हमारा प्रश्न कांपता-थरथराता खड़ा रह गया है। वह स्थूलसे स्थूलतर होता जा रहा है और उत्तरमें मानव-हत्याकी वे चीत्कारें तीव्रसे तीव्रतर होती जारही हैं। हमारी मति बौखला गई है। भगवती बुद्धिका आसन डोल उठा है। भगवान सत्य इस रक्त-समुद्रमें डूब कर रसातलको चले गये हैं। फिर भी हम अपनी सारी बाहोशीके साथ यह कहते पाए जा रहे हैं कि बुद्धिवाद और विज्ञान इसके लिए ज़रा भी उत्तरदायी नहीं। तो क्या हम मान लें कि बुद्धिवाद और विज्ञान इस सबके सम्मुख मूक हैं, अवश हैं, पंगु हैं ?

तब तो निश्चय ही बुद्धिवादी मित्र झुँझला उठेंगे हमारी इस दुर्बुद्धि और भावुकता पर और कहेंगे भौंहें चढ़ाकर—'अरे भाई ! विज्ञान और बुद्धिवाद कब युद्धको चाहता है ? पर हां, अखण्ड मानवता और साम्यवादी विश्व-व्यवस्था तक पहुँचनेका जो विधायक मार्ग है, उसमें यह और ऐसे कई संघर्ष अनिवार्य हैं। युद्धको मिटानेके लिए ही यह महा-युद्ध है। इस महा-युद्धमें अपना सर्वस्व होमकर हमें भावी युद्धकी आशंकासे मनुष्य जातिको मुक्त कर देना है। यह जन-जन का युद्ध है; यह मानव-मात्रका स्वातंत्र्य युद्ध है। फ़ासिज़्म और पूंजीवादकी दानवी शक्तियोंका मूलोच्छेद करके हमें मनुष्य मात्रके चरम स्वातंत्र्य और साम्यका मार्ग प्रशस्त करना है। बुद्धिवाद और विज्ञान तो उसी परम सत्यान्वेषणाका एक अग्नि-शुद्ध और प्रखर सत्य-पंथ है। उसका सदुपयोग और दुरुपयोग तो प्रयोग करनेवालोंपर निर्भर है, पथ उसके लिए दोषी नहीं। पर हां, बुद्धिका रास्ता कायरों और भावुकोंके लिए नहीं है। अहिंसाकी बोली कायरोंकी कातर वाणी है। बुद्धिवादी मेरुकी तरह

अचल, वज्रकी तरह कठोर, अपने मार्गपर अडिग है । रक्तकी नदियोंके सम्मुख वह ज़रा भी विचलित नहीं होता । सत्य मार्गका पंथी अकुंठित, अपराजित भावसे इन बढ़ियाओंको पार करता अपने लक्ष्यकी ओर बढ़ा चलता है... आदि ।'

यदि यही हमारे बुद्धिवादी मित्रका उत्तर है तो इसके सम्मुख हम निरुत्तर हैं । इस बुद्धिवादी तर्कका उत्तर देनेके लिए हम बुद्धि कहांसे पाएं ? यह विराट हिंसक कर्म-व्यापार, जो आजकी समस्त मानवी मेधाके क़ाबूसे परे एक अनिश्चित दिशामें गतिशील है, इसके सारे ओर-छोरोंका जिन्हें पता है और जो इसे अन्त तक पहुँचाकर फिर अपनी मर्ज़ी और योजनाके अनुसार समेट लाकर, वांछित सही रास्तोंपर उसे गतिशील कर देनेके अखण्ड आत्म-विश्वाससे संचालित हैं, निखिल मानव-भाग्यके उन चक्रवर्तियोंके सम्मुख हम क्या बोलें ? तो भी हम यह अच्छी तरह जानते हैं कि विज्ञान और बुद्धिवादने प्रकृतिके अनन्त शक्ति-कोषमें से जो उसके एक अंश मात्रका पता पा लिया है उसी पर क्षुद्र मानव अहंसे मत्त हो उठा है । उस मदकी मूर्छनासे आच्छन्न होनेके कारण उन अर्जित शक्तियोंके उपयोगपर प्रभुत्व रख सकने जितना विवेक चूँकि उसमें नहीं रह गया है, उसी विवशताका परिणाम है यह अपूर्व हिंसा-काण्ड । अपनी इस विवशताको, वह अपना स्वायत्तकल्याणविधान-माननेके भ्रामक दुश्चक्रमें पड़ा हुआ है । अपने इसी बेक़ाबू आत्म-नाशको वह अमर निर्माणकी तैयारी समझनेकी गर्विष्ठ ग़लत-फ़हमीमें भटक रहा है । अखण्ड मानवताका यह निर्मूल स्वप्न हमपर इस क़दर हावी हो गया है कि हमें व्यक्तिकी अन्तरंग विवशताओं और दुर्बलताओंका ज़रा भी ख्याल नहीं रह गया है । विज्ञान और बुद्धिवादका मार्ग सत्य तक पहुँचनेके लिए चाहे सोलहों आने सच हो, पर यदि उसका उपयोग करनेवाला व्यक्ति-मनुष्य अपने-आपमें उतना ही अज्ञानी, दुर्बल, विवेकहीन और विवश बना हुआ है और वह उस मार्गका सदुपयोग करनेके बजाय कुल मिलाकर दुरुपयोग ही ज़्यादा

करता नज़र आ रहा है, तो मानवताकी इष्ट प्रगति उससे कैसे साध्य है? फिर तो भावाश्रयी धर्मने ही क्या कसूर किया था? उसके मौलिक विधानमें भी तो मंगल-कल्याण और समताका ही मार्ग निर्दिष्ट किया गया था। पर मनुष्यकी वैयक्तिक दुर्बलताओंके हाथों पड़कर ही तो वह पाखण्ड और अनाचारका प्रश्रय स्थल बना।

इसीसे कहना चाहता हूँ कि हमारी आजकी सबसे बड़ी समस्या आचरण की है—सिद्धान्तकी नहीं। भावना और बुद्धिके मार्गोंमें जो अन्तर हमें दिखाई पड़ता है वह हमारी साधनाकी अपूर्णता और एकान्त 'वाद' बना लेनेके कारण है। नहीं तो मानव-जातिके अग्रदूत साधक जो आत्म-विकासके चरम उत्कर्षपर पहुँचे हैं, चाहे वे भावनाके क्षेत्रमें रहे हों अथवा बुद्धिके क्षेत्रमें, पूर्णताके उस बिंदुपर मार्गोंके ये सारे भेद निर्वाण पा गये हैं। वहाँ ज्ञान-विज्ञान, भक्ति और कर्मके सारे योगों और मार्गोंको एक ही परम तत्वमें मुक्ति मिल गई है। इसीलिए हम देखते हैं कि मानव-इतिहासमें अब तक जितने भी ज्योतिर्धर, धर्मोपदेष्टा और क्रान्ति-द्रष्टा हुए हैं, सभीने अपने परमतम प्राप्ति (आदर्श) के स्थलपर इसी एक ज्योतिर्बिन्दुको स्पर्श किया है। इसीसे कहता हूँ कि संघर्षकी विषमता सिद्धान्तोंको लेकर उतनी नहीं है, जितनी मनुष्यके हृदयको लेकर। संघर्षकी असल लीला-भूमि तो मनुष्यका हृदय है। बाह्य आवरणमें वैज्ञानिक क्रिया-विधान (Manipulation) द्वारा उपस्थित की जानेवाली क्रान्ति, मानवके अन्तर्जगत्में चल रहे वैकारिक संघर्ष से उसे मुक्त न कर सकेगी। सतहपर की इस कृत्रिम क्रान्तिसे हम अखण्ड मानवताका निर्माण न कर सकेंगे। बल्कि इस रास्ते चलकर तो हम अखण्ड मानवताके छद्मावरणमें मनुष्य-मनुष्यके बीचके अन्तर-संघर्षको तीव्रसे तीव्रतर बनाते जा रहे हैं और हमें अपनी इस ग़लतीका पता ही नहीं है। मानवीय विकारोंके उन्हीं पुरातन दुश्चक्रोंको और भी पूर्ण वेगसे गतिवान कर हम यह समझनेकी ग़लत-फ़हमीमें हैं कि हम प्रगति कर रहे हैं!

कहा जाता है कि भावाश्रयी धर्मके अन्तर्मुखी मार्गने मनुष्यको स्वेच्छाचारी, स्वार्थी, अन्धविश्वासी और अज्ञानी बनाया है। धर्मने मनुष्य-मनुष्यके बीच दीवारें खड़ी कर दीं। पर देखता हूँ कि नकारात्मक बुद्धिवादने मनुष्यकी वैयक्तिक दुर्बलताओंको खुलकर खेलनेके लिए जैसा स्वैरविहारी और तर्क-प्रश्रयित मार्ग प्रशस्त कर दिया, वैसे स्वेच्छाचारकी गुंजाइश तो धर्मोंके मौलिक विधानमें ज़रा नहीं थी। इसीलिए धर्मके मार्गमें मनुष्यकी उन दुर्बलताओंको सामाजिक स्वीकृति कभी नहीं मिल सकी। पर बुद्धिवादी अपनी ही वैयक्तिक बुद्धिपर इतना अधिक विश्वास कर लेनेका लाइसेंस प्राप्त किए हैं कि सब कुछको इनकार करके मानों सारी सत्ताओंका ईश्वरत्व, विधायकत्व अथवा अधिनायकत्व उसने एकतन्त्रीय रूपसे अपने ही अन्दर स्थापित कर लिया है। और यों हर बुद्धिवादी अपने आपमें एक पूर्णताके अधिकारका जैसे दावा लिए चलता है। हर बुद्धिवादी अपने आपमें मानो एक छोटा-मोटा सर्वज्ञ या ईश्वर है, जो भी वह सर्वज्ञता और ईश्वरत्वमें विश्वास नहीं करता। बुद्धिवादकी धरती और जलवायुमें पनपनेवाला हर एक व्यक्ति मानों ईश्वर बनकर ही उग रहा है। इन 'ईश्वरों' की आबादी बेअख्तियार बढ़ रही है। ये अगणित छोटे-छोटे अहं-ग्रस्त ईश्वर (Ego-gods) अपने आस-पास एक महत्ताकी गुफा बनाकर उसके द्वारपर आ बैठे हैं और परस्पर एक-दूसरेसे झगड़ने और गर्जन-तर्जन करनेमें ही व्यस्त हैं! उन सबके अहं इतने तीव्र हो गए हैं कि बिना रगड़ खाए वे रह नहीं सकते। उनमेंसे हर एक, हर दूसरे आदमीकी सत्ताको अघात पहुँचाकर ही अपनी सत्ता क़ायम कर सकता है। ममकारका यह कषाय उनमें इतना बद्धमूल हो गया है कि वे उसीको जीवन-धर्म मानने लगे हैं। संघर्ष जीवनमें अनिवार्य है—यह ठीक है, पर अपने अनजाने ही वे उसे आवश्यक और इष्ट भी मानने लगे हैं। संघर्ष ही उनका विधायक जीवन-दर्शन है; नकारात्मक रूपसे वे एक समताकी स्थितिकी कल्पना अवश्य करते हैं। इसीलिए वे घृणाका खुला उपदेश देते

हैं—वही उनके अस्तित्वका मूल तक़ाज़ा हो गया है। घृणाको ही वे अस्तित्व की शर्त मानने लगे हैं, क्योंकि उनके लेखे संघर्षसे परे किसी शाश्वत सम में जीवनकी परिणति नहीं है। 'घृणा करो—घृणा करो' यही उनका स्लॉगन है। प्रेमकी सत्ता वे नहीं मानते, उस बारेमें आप उनसे क्यों बहस किया चाहते हैं? प्रेम उनके लेखे धोखा है—भ्रम है, शोषणका हथियार है, निरी भावुकता है। वे नहीं मानते कि ज़ीरो डिग्रीपर अहिंसा या प्रेम ही जीवनके मूलमें है; और यह कि सृष्टिके केन्द्रमें ही अहिंसा एक स्वयम्भू भगवतीके रूपमें विराज रही है, कि जिसके कारण सारे संघर्षके बावजूद भी हम एक दूसरेको जीने दे रहे हैं—क्योंकि हम स्वयं ज़िन्दा रहना चाहते हैं। वे तो निश्चित मानते हैं कि हिंसा ही सृष्टिका प्रकृत धर्म है और जीवन-संघर्षकी सारी शृंखला हिंसासे ही परिचालित है। एक जीव दूसरे जीवके शोषणपर ही जी रहा है। यह तो प्रत्यक्ष और विज्ञान-सम्मत है, इसमें सन्देहकी गुंजाइश कहाँ? उनकी असल सैद्धान्तिक ज़मीन यही है। पर बावजूद इसके वे शोषण-संघर्ष-हीन समाज-व्यवस्था लाना चाहते हैं। इस समाज-व्यवस्थासे उनका मतलब मनुष्य-समाजसे ही है; शेष सृष्टि और जीव-जातियोंको वे अपना अधीन भोग्य पदार्थ भर मानते हैं। मनुष्यकी सीमासे आगे बढ़ते ही, वे जीवन-मात्रके शोषणको स्वीकृति दे देते हैं, और मनुष्यको दे देते हैं उसकी मॉनोपोली! बस फेलेसी(ग़लती) यहीं हो गई है। उनके ध्येय और उनकी असल फिलॉसॉफिक ज़मीनमें जो बुनियादी विरोध है, उसीका विस्फोट इस बिन्दुपर आकर हो जाता है। जहाँ तक मनुष्य जातिसे वास्ता है, संघर्ष-शोषणसे हमें ऊपर उठ जाना है, परन्तु जहाँ इतर जीवनोंका प्रश्न है, वहाँ हमारे द्वारा उनके शोषण को हम जायज़ क़रार दे देते हैं। इस निर्विवेक जातिगत स्वार्थान्धताके कारण उनका सारा जीवन-दर्शन अपने अन्तरंगमें हिंसाके मारक विषसे लबालब भर उठा है। भले ही अपने आदर्श-नियोजनमें वे अखण्ड मानवता और साम्य की बातें करें, पर अपनी असल सहज-वृत्ति (Instinct) की ज़मींनपर वे

उसी हिंसा और घृणाके दुश्चक्रसे सञ्चालित हैं। यही कारण है कि संघर्षके परे जीवनकी परिणति वे नहीं देख पाते। 'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचारेत्' का सर्व कल्याणकारी मन्त्र इसीलिए उन्हें नहीं रुचता। वे जिस दुश्चक्रमें फँसे हैं उससे आगे नहीं देख पाते हैं, और उससे ऊपर उठनेकी जो बात करते हैं उन्हें वे आदर्शवादी, पाखण्डी और रोमाण्टिक कहते हैं। व्यक्ति-व्यक्तिकी पारस्परिक रगड़से लगाकर आजका यह अन्तर्राष्ट्रीय महायुद्ध तक इसी तर्कसे सञ्चालित है।

साम्यके अपने इस आदर्शको वे मनुष्य-समाजसे आगे बढ़ाकर निखिल सृष्टि या समष्टि तक ले जाते तो वे इस ग़लत तर्कके चक्करमें न पड़ते। तब जीवन-मात्रके मूलमें वे प्रेमको ही पाते; जीवनमात्रकी साम्यधर्मी, सर्व-रक्षणी, जीवन-व्यवस्थाके लिए वे अहिंसा और प्रेमको ही अनिवार्य शर्त मानते। पर उनके इस जातिगत स्वार्थकी सीमाने उनके दर्शनमें ही एक बद्धमूल विरोध पिरो दिया है, जो प्रारम्भसे अन्त तक अव्याहत रूपसे उनके सारे सिद्धान्त और आचरणपर अनजाने ही छाया हुआ है। इसे वे पहचानते नहीं हैं, इसीलिए क़बूल नहीं करते। यह सब इसलिए कि जीवनकी पारमार्थिक सत्ता (Objective reality) के प्रति अपने आपमें ही, उनके मनमें कोई निरपेक्ष आदर या प्रेम नहीं है;—वे जीवनके मौलिक मूल्यके प्रति निष्ठावान् नहीं हैं। वे तो अपनेको प्रकृतिकी सर्वश्रेष्ठ कृति मानते हैं और शेष सारी जीवन-समष्टिके स्वयम्भू नियोजक और विधाता बन बैठे हैं। सृष्टिमें अपनेसे अबलोंके शोषणपर जीनेका अपना जन्म-सिद्ध अधिकार उन्होंने मान लिया है और उसके बाद अपनी जातिगत विषमताकी समस्यामें शोषण और संघर्ष का अन्त किया चाहते हैं। व्यष्टि और समष्टिके बीच जो एकात्मका सनातन, प्रकृत सम्बंध है, उसीको आघात पहुँचाकर वे बाहर-बाहरके कृत्रिम उपायों द्वारा एक यान्त्रिक साम्यवाद निष्पन्न किया चाहते हैं। पर मानना होगा कि यदि हम समग्रका संश्लिष्ट दर्शन करें तो यह एक वैज्ञानिक असम्भवनीयता

है। चूँकि इस आदर्शका मूलाधार ही ग़लत है और स्वार्थसे विकृत है, इसीलिए विश्वव्यापी साम्यवादका आदर्श रखकर भी व्यवहारमें हमारे लिए राष्ट्र और वर्गके स्वार्थोंकी तुच्छ सीमाओंको लांघना भी मुश्किल हो गया है। हम समाज और गिरोहकी सीमित भाषामें बोलना छोड़ दें; समष्टिके व्यापक सर्वोदय और अविकल एकताकी भाषामें बात करें। हमें समाज-व्यवस्थापक साम्यवाद नहीं चाहिए, हमें सर्वोदयी साम्यधर्म चाहिए।

उपरोक्त जातिगत स्वार्थ सीमाके कारण—यानी जीव मात्रकी अखण्ड एकताके प्रति अश्रद्धा और नकारात्मकताके कारण ही जीवन मात्रके प्रति सहज सहवेदन, सहानुभूति और आत्मोत्सर्गका मौलिक भाव हममें नहीं रह गया है। हमारी उस व्यापक स्वात्म्य चेतनाका दिन-ब-दिन ह्रास होता जा रहा है। यह इसलिए कि हमें अपनी निसर्ग आत्म-चेतना और भावानुभूतिपर विश्वास नहीं रह गया है। हम तर्क और विज्ञानसे विश्लेषित करके ही उसके मूल्यको निर्धारित करते हैं। पर विश्लेषण होने तक तो कुछ भी शेष नहीं रह जाता। समग्रकी संश्लिष्ट अनुभूतिमें ही हम परिणामनशील, चिरन्तन् प्रवाही जीवनकी चेतनाकी प्रतीति पा सकते हैं और उस चेतनाके साथ सायुज्य (Communion) लाभ कर सकते हैं। विश्लेषणमें तो अनाहत चेतन-धाराका स्वर भंग हो जाता है।

'घृणासे ही घृणाका नाश हो सकेगा; ज़हरको ज़हरसे ही मारना होगा; काँटा काँटेसे ही निकाला जा सकेगा; तलवारको तलवारसे ही नष्ट करना होगा और युद्धोंका अन्त बृहत्तर युद्धसे ही हो सकेगा'—यही है हमारा सुनिर्णीत वैज्ञानिक सिद्धान्त—और इसीके द्वारा हम अखण्ड मानवताकी स्थापना किया चाहते हैं। 'जनताके युद्ध' का नारा कथित प्रजातन्त्रवादी देशोंका नहीं है। वह साम्यवादी रूसका नारा है। फिर भी आमतौरपर सभी मित्र राष्ट्र बड़ी ही बुलन्द आवाज़में बार-बार यही नैतिक उद्घोषणा करते सुनाई पड़ रहे हैं कि समूची मानवताके स्वातन्त्र्य, शान्ति और संस्कृतिका

फासिस्ट दानवोंसे त्राण करनेके लिए ही उन्होंने अपनी तलवार उठाई है। पर साम्यवादी रूसको जब मजबूरन अपनी उतनी ही तीव्र राष्ट्रीयताकी रक्षाके लिए युद्धमें उतर जाना पड़ा तो उसने अपने आन्तरिक स्वार्थके छिद्रोंपर पैबंद लगानेके लिए अपने पारमार्थिक प्रयोजनको और भी ऊपर होकर एक खास आवाज़में घोषित किया। उसने तमाम दुनियाकी सर्वहारा मानवताको खाम-खाह अपने अहसानके साएमें ले लिया और डंकेकी चोट पर यह ऐलान किया कि यह युद्ध तमाम दुनियाकी 'जनताका युद्ध' है—यह 'लोक-युद्ध' है; हमने निखिल पीड़ित और शोषित मानवताके हितों और हक़ोंकी रक्षाके लिए तलवार उठाई है। अपने युद्धमें कूदनेके पहले रूस फासिस्ट जर्मनीका दोस्त था—उस फ़ासिज़्मका जिसे कुछ दिन पहले वह इन्सानियतका सबसे बड़ा दुश्मन मानता है। पर इससे पहले शायद साम्राज्यवाद और पूँजीवादको ही वह मानवताका सबसे बड़ा शत्रु मानता था। मगर जब अपनी राष्ट्रीय सीमाओंको आँच आई और फासिस्ट जर्मनीसे लड़ाई ठन गई तो पूँजीवादी साम्राज्यवादको अपना चोली-दामन हमसाया बनाकर वह फासिज़्मका मूलोच्छेद करनेकी परमार्थिक घोषणाएँ करने लगा। पहली बात सच थी या दूसरी, यह निर्णय करनेके लिए सत्य और नैतिकताका कोई मेरु-दण्ड हमारे सामने नहीं है; क्योंकि प्रगतिशील बुद्धिवादियोंके लेखे तो आचरणके सत्य और नैतिकता भी क्षण-क्षण प्रगतिशील हैं। और मनुष्य अपनी तात्कालिक ज़रूरतका उत्तर देनेके लिए अपनी बुद्धिसे जो कुछ भी करता है, वह सब न्याय्य है, सब नैतिक है, सब सत्य है। अपने ऐसे त्राताओं और रक्षकोंका हम विश्वास करें तो किस बुनियादपर करें?

ये जो युद्ध-क्षेत्रमें ही तमाम इन्सानियतके भाग्यका फ़ैसला करनेकी आखिरी क़सम खाकर जूझ रहे हैं, और तलवारके बलपर ही विश्व-शान्ति और नवीन विश्व-व्यवस्था क़ायम करनेका ख्वाब देख रहे हैं, उनका तर्क तो निरा बच्चोंके तर्क-सा लग रहा है। वे शायद सोच रहे हैं कि मानवताके एक

अंश—एक जाति विशेषका समूल नाश करके हम अपना मार्ग निष्कण्टक कर लेंगे और फिर दुनियामें अपनी मनमानी व्यवस्था क़ायम कर ले जाएंगे। पर यह बात न तर्क-सम्मत है, न विज्ञान-सम्मत। यह तो प्रतिहिंसाके उन्माद की एक आवेशपूर्ण जल्पना मात्र है। दो सड़कके आदमियोंमें लड़ाई होनेपर, या दो साँढोंमें भिड़न्त हो जानेपर हिंसाके अदम्य कषायवश वे एक-दूसरेको मारने, मिटा देनेका संकल्प लेकर जूझते ही जाते हैं, बिना अपनी सामर्थ्य और परिणामका विचार किए। आजके युद्धवादियोंकी ये घोषणाएँ भी वैसे ही बेक़ाबू हिंसक उन्मादका प्रलाप मात्र है। उसमें पूर्वापर विचारकी धीरगम्भीरता, सदसद्विवेक-बुद्धि और सन्तुलित चिन्ताका अभाव है। वह तो महज़ स्वार्थसे विकृत, उत्तेजित मस्तिष्ककी अपरिणामदर्शी, अदूरदर्शी प्रतिक्रिया है।

हम फ़ासिज़्मको मिटा सकते हैं; पर फ़ासिज़्मकी वाहक मानवताके एक अंश या जातिको समूल मिटा देनेकी बात तो निरी मूढ़ कल्पना है। लेकिन फासिज़्म और उसकी वाहक मानवताको अलग-अलग देखनेका विवेक ही हममें कहाँ रह गया है? हम जर्मन या अन्य फ़ासिस्ट जातियोंके आख़िरी बच्चे तकको अपनी तलवारके घाट उतार देनेके हिंसक जुनूनसे लड़ाईके मैदानमें जूझ रहे हैं, और फिर भी हम यह कहते नज़र आ रहे हैं कि हम फ़ासिज़्मको मिटाना चाहते हैं—उसकी वाहक इन्सानियतको नहीं! हम सरासर आदमियोंको मार रहे हैं और कह रहे हैं कि हम फ़ासिज़्मको मार रहे हैं! साफ़ है कि राष्ट्र या जाति विशेषको समूल नष्ट करके ही हम अपना रास्ता देख पाते हैं। पर किस माइक्रोसकोपके नीचे हम फ़ासिस्ट खूनकी आख़िरी बूँदको जाँचकर यह फ़ैसला कर देंगे कि बस अब फ़ासिस्ट खूनके जीवाणु निःशेष हो गए और अब तलवार डालदो? चूँकि फ़ासिज़्म पाशविक शक्ति और लोहेके तर्कको ही मान कर चला है, इसलिए उसी पाशव बल और लोहेसे उसका और उसकी वाहक मनुष्यताका हम मूलोच्छेद किया चाहते हैं। यही है हमारा वह पराजित और घायल तर्क जिससे हम साम्य और शान्ति स्थापनाकी अपराजित तैयारियाँ कर रहे हैं?

मानवताका एक अंश या जाति-विशेष (जो फ़ासिस्ट है) की नस्लका निश्चित क्षेत्र या मर्यादा जानना कोई आसान बात नहीं। कितनी शाखा-प्रशाखाओंमें वह रक्त बट गया है और कहाँ तक उसका प्रभाव--क्षेत्र है, यह निर्णय करना बड़ेसे बड़े विज्ञानसे सम्भव नहीं। फिर उस जाति या राष्ट्रके मूलोच्छेदकी क्या कल्पना हो सकती है ? भौगोलिक सीमाएँ मनुष्यकी जातीयताके विस्तारका ठीक-ठीक पता नहीं देतीं। एक देश विशेषको हम नितान्त जन-हीन कर भी दें, जो कि सर्वथा असम्भव है, तब भी उसकी जातीयताका अंश या बीज कहाँ बच रह जायगा, यह ठीक-ठीक नहीं कहा कहा जा सकता। और वह बीज या अंश प्रतिक्रिया या प्रतिहिंसासे परि-चालित होकर कभी भी हमारे देखते-देखते एक करिश्मेकी तरह एक जातिके रूपमें उठ खड़ा हो सकता है और फिर अपना बदला भुनानेकी विषमतम तैयारी कर सकता है। पिछले महायुद्धमें नाबूद की गई जर्मनी पन्द्रह-बीस बरसोंमें ही ऐसे फौलादी राष्ट्रके रूपमें उठ खड़ी होगी यह किसने कल्पना की थी ? दूसरे मूलोच्छेदकी अपनी योजना बनाकर अपने संकल्पके छोर तक पहुँचनेकी जो हमारी यात्रा है, उसके बीच अनेक अज्ञात घटना-चक्रोंके कारण जो विषम प्रतिक्रियाएँ बीच-बीचमें कभी भी पैदा हो सकती हैं, और हमारे सारे मंसूबोंके तख्तोंको उलट सकती है—यह सोचना तो शायद हम भूल ही जाते हैं। हम विरोधी पक्षकी हमसे छुपी शक्तियोंका और अदृष्टका ज़रा भी विचार करना उचित नहीं समझते। और अपने बुद्धिवादी तर्ककी नोकसे बनाए हुए नक़्शेके अनुसार करोड़ों ज़िन्दगियोंके साथ अपनी ख्याली उत्ते-जनाका ख़तरनाक खेल हम बराबर खेलते जा रहे हैं। यह बच्चोंके खिलौनोंका निर्जीव दुनिया तो है नहीं कि एक खिलौनेके आदमीसे दूसरे खिलौनेके आदमीको मनमाने रूपसे मरवाकर, और जब चाहेंगे तब इधरसे उधर खिलौने धर-उठाकर अपनी मनचाही व्यवस्था बना लेंगे। शतरंजका खेल महज़ एक चौकोर शतरंजीकी छोटी सी परिधिमें गिनी-चुनी निर्जीव मोहरोंसे

ठीक हमारी नाकके नीचे चल रहा होता है। और उसमें भी जब हम अपना सारा बुद्धि-बल खर्चकर क़िले-बंदी करनेमें मशगूल होते हैं, तब अचानक जाने कहाँ चूक जाते हैं और हमारे प्रतिद्वंदीकी एक प्यादकी एक बेसाख्ता चाल हमारी सारी बाज़ी उलट सकती है। तो भला बताइए इस विराट् सृष्टिकी योजनामें अपने सीमित बुद्धि-जनित नियोजन पर अतिरिक्त विश्वास कर नाशका ऐसा बर्बर खेल खेलते जाना कहाँ तक विवेकसंगत कहा जा सकता है।

रही बात फ़ासिज़्मको मिटानेकी, सो वह तो पाशव-शक्तिकी नग्न फ़िलॉसफ़ी है। तर्क और तलवार दोनों ही से हम उसका आमूल नाश नहीं कर सकते। पशुताको तर्ककी कोई अपील नहीं, और तलवारसे वह चौगुनी होकर जागेगी। उसे तो प्रेमसे ही वश किया जा सकेगा। हृदयकी धरती बदलकर ही पशुको मनुष्य बनाना होगा, पाशव बलके ज़ोरसे तो पाशव बल ही उमड़ेगा। ज़हरके मन्थनसे उसकी मारक शक्ति और भी सघनतर होती चलेगी, उसमेंसे अमृत तो किसी भी दिन नहीं निकल सकेगा। इसलिए 'युद्ध के द्वारा युद्धका अन्त' करनेकी कल्पना तो निरा मूढ़का कल्पना-स्वर्ग है।

इस महायुद्धका फ़ैसला रण-क्षेत्रमें लोहेकी रगड़के बीच नहीं हो सकेगा; यह एक स्वयंसिद्ध और अतर्क्य सत्य है। या तो वह किसी एक राष्ट्र या पक्ष विशेषके निर्बलतम हो जानेपर उसके पीड़नकी क़ीमतपर स्वार्थी, सहयोगी राष्ट्रों द्वारा एक बँटवारोंकी सन्धिके रूपमें होगा, जिसका कि अर्थ होगा आगामी कालमें एक भीषणतर महायुद्धका विष-बीजवपन! और यह नहीं हुआ तो फिर प्रेमके देवताके चरणोंमें पीड़ित, घायल, नादान मानवता शरण आयेगी और वहीं उसे त्राण और अभयदान मिल सकेगा। वहीं पश्चात्तापके आँसुओं में पिघल-पिघलकर मनुष्य, मनुष्यको गले लगाएगा। कोई माने या न माने, वह घड़ी अब अनिवार्य है। अभी अखबारमें पढ़ा कि इटलीके किसी मोर्चे पर ईस्टरके दिन जर्मन, अँग्रेज़ और अमेरिकन फौजोंके सिपाहियोंने एकमत

हो गोलाबारी बन्दकर, मिलकर एक जगह ईस्टरकी प्रार्थना की। इंग्लैण्डकी पार्लियामेण्टमें सवाल उठा कि आखिर यह कैसे मुमकिन हो सका ? जवाब मिला: इस मामलेकी जाँच हो रही है ! उस दिव्य मुहूर्तमें अचानक उन सिपाहियोंकी आत्माएं जाग उठीं और निमिष भरको सारे युद्धों और परिस्थितियोंसे ऊपर उठकर हृदयकी धरतीपर मनुष्यके वे बच्चे उस प्रार्थना में प्रभुके चरणोंमें अपने अनजाने ही एकाकार हो गए। सत्यके उस स्वयम्भू कल्याण-बिन्दुका पता किसी भी बाहरी जाँच-पड़तालसे न लगाया जा सकेगा। हम अपने हृदयोंमें झाँकें और यह मसलेहत फ़ौरन समझमें आ जायेगी। इटली के मोर्चेपर होनेवाली शत्रुओंकी वह सम्मिलित प्रार्थना, आप निश्चय मानियें, निकट भविष्यमें ही अनिवार्य रूपसे आनेवाले उसी प्रेम-पर्वका एक पूर्व संकेत है।

तो कहना चाहता हूँ कि स्वेच्छाचारिताका सुलभ हथियार बननेकी गुंजाइश भावाश्रयी धर्ममें उतनी अधिक नहीं थी जितनी कि बुद्धिवादमें। बुद्धिवादमें हम पतनको पतन और झूठको झूठ नहीं कह सकते। वहाँ सारी बुराइयोंको तर्कसे उलट-पुलटकर अपने स्वार्थके मनोनुकूल ठप्पोंमें बिठाया जा सकता है। इसीसे बुद्धिवादके द्वारा स्वार्थी व्यष्टिवादका ही निर्माण सम्भव है, साम्यधर्मी समष्टिवादका नहीं। क्योंकि बुद्धिवादी बाह्यतः विचारमें जितना ही परात्मक द्रष्टा है, आचरणमें वह उतना ही स्वार्थके बहुत ही निचले स्तर पर स्वार्थी और स्वच्छन्दगामी है। नाना परिस्थितिक विषमताओं और प्रतिक्रियाओंके कारण धर्मोंमें विकृतियाँ अवश्य आईं, समय पाकर उनके आवरण जीर्ण-जर्जर हो गए; उनमें साम्प्रदायिकताका विष फैला; पर धर्मोंके मौलिक विधानमें मनुष्यकी वैयक्तिक दुर्बलताओंको प्रश्रय तो कभी न मिल सका। धर्मकी कसौटी तो आचरण है—और आचरणका मापयंत्र है अनुभव। यदि आपके आचरणमें कपट है, घातकता है, हिंसा है तो वह स्वार्थ-वश आपके अनुभवसे शायद बच भी जाए, पर दूसरेके अनुभवसे तो वह

बच नहीं सकती। बाह्य पाशव बलसे और अज्ञानके प्रभुत्वसे धर्मोंके नामपर अनेक पाखण्ड, दुराचार और शोषणकी शृंखलाएं पनपी हैं अवश्य। पर वह कभी अनुभवगत न हुई हों और धर्मके मौलिक विधानमें उनकी तार्किक स्वीकृतिके लिए रत्तीभर भी गुंजाइश रही हो, यह हम नहीं कह सकते।

एक बातका ख्याल रहे। यहाँ धर्मसे हमारा अभिप्राय पंथ-संप्रदाय या उनके विधि-विधानोंसे नहीं है। सत्यानुभूति और आचरणके सारे अन्तर्मुखी और बोध-प्रधान मार्गोंका धर्ममें समावेश है। पहोंच या प्राप्तिका जो भीतरसे जानेवाला अनुभूति-मूलक रास्ता है—वही धर्म है। जिस रास्ते चलकर धीरे-धीरे स्वार्थ और परमार्थ एक रूप होते जाते हैं और अन्ततः स्व और परका भेद विसर्जित हो जाता है, वही धर्मका मार्ग है। उसकी कसौटी पद-पद पर प्रत्यक्ष है। "आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्" : यही धर्मकी मौलिक परिभाषा है—यही है धर्मका शाश्वत, सनातन मार्ग, जिसमें आचरण और सत्यका साक्षात्कार एक रूप हो गए हैं। धर्मका मार्ग त्याग और समर्पणका मार्ग है। सबको पानेके लिए सबके प्रति अपनेको दे देना है। अहंकार, ममकार और मिथ्यात्व तो वहां तुरंत आचरणमें झलक आएंगे, किसी भी तर्कमें उसे छुपानेकी गुंजाइश वहाँ नहीं है। वह आत्म-विसर्जन और आत्मदानका रास्ता है। समष्टिके साथ एकात्म्य साधनेमें ही वहाँ व्यष्टिका मोक्ष माना गया है। निरे तर्कसे वहाँ प्राप्ति नहीं। कुछ दिन भले ही कोई अज्ञानवश निज को और परको धोखा दे ले—जब तक निज और परकी प्रकृत आत्मीयताका ज्ञान उसे नहीं हो जाता। पर धर्मका अर्थ ही है निजके मूल स्वभावमें रमण या परिणमन। परको धोखा भले ही देते चलो, पर निजको धोखा कै दिन दे सकोगे। निजके स्वरूपकी प्राप्तिके जितने ही निकट पहुंचोगे, परके साथके तुम्हारे संबन्ध उतने ही अधिक प्रकृत, सहज, वीतराग और निष्कपट होते चलेंगे। मिथ्यात्वोंके आवरण अपने आप विसर्जित होते जाएंगे। निम्न, संकीर्ण स्वार्थ इसलिए नहीं रहेगा कि उत्कृष्ट

स्वार्थ ही परमार्थ हो जाएगा। स्व और परमें जब एकात्म्य सिद्ध हो जाएगा तो हिंसा और असत्यका प्रश्न ही न उठेगा। हिंसा तब आत्मघात होगी, और असत्य तब आत्म-छलना होगी, वह तब संभव न होगी। क्योंकि तब स्व-परका भेद लोप होकर आचरण मात्र निःशेष हो जाएगा। रह जाएगी केवल एक निर्मल अनुभवकी चिरन्तन प्रवाही सलिल धारा, अपने ही स्वरूप में परिणामनशील।

इसीसे कहना चाहता हूं कि बुद्धिके एकान्त परात्मक मार्गमें तर्क-संगत असत्य, छद्म और दुराचरणके लिए द्वार सदा मुक्त है; जब कि निज स्वरूप-मूलक धर्मके अन्तर्मुखी मार्गमें वैसी गुन्जाइश क़तई नहीं है। तब मानना होगा कि धर्मका प्रकृत मार्ग ही जीवन मात्रके कल्याणका एकमेव सर्वोदयी और सर्व-स्पर्शी पथ है।

लोकायतन की रूप-रचना

'लोकायतन' हिन्दीके देव-दूत कवि श्री सुमित्रानन्दन पन्तका जीवन-स्वप्न है।

एक दिन था जब हमारे देशमें कलाका सत्य-शिव-सौन्दर्यमय ऐश्वर्य जीवनमें प्रकाशित था। जीवनका सारभूत मधु सहज ही कलाके कमलके रूपमें फूट उठता; इस कमल की कर्णिकामें नवीन जीवनके निर्माणका गन्ध-पराग भी भर आता था और इसलिए जीवन भी तब सहज ही कलासे अनुप्राणित और अनुरंजित था। आज कला और जीवनका वह प्राण-योग विच्छिन्न हो गया है। इसका मूल कारण यंत्रवाद, राष्ट्रीयता, अर्थवाद अथवा वर्ग-विग्रह है या और कुछ, इसकी मीमांसामें हमें नहीं उलझना है। हमें तो भीतर और बाहरका यह जो सूत्र भंग हो गया है, उसे जोड़ देना है। अन्तर-बाह्यके इसी सायुज्यमें से कला निष्पन्न होती है और वही जीवनके इस संतुलनको क़ायम रखती है।

'लोकायतन' के स्वप्न-द्रष्टाका यह अनुरोध कलाकी ओरसे ही है। वह कलाके द्वारा जीवनका रूप-संस्कार किया चाहता है। कला-शिल्प केवल कलाकारों और रूप-दक्षोंके एकान्तका प्रतिमा-पूजन बनकर न रहे; वह केवल कुछ व्यक्तियोंके मनोविलासका साधन न रह कर, व्यापक लोक-जीवन के आनन्दोल्लासका साधन बन जाए। इसके लिए आवश्यक है कि लोक-जनके प्रतिदिनके जीवन-व्यापारमें कला और शिल्पका प्रवेश हो जाए। इसके लिए लोक-मनका संस्कार-परिष्कार करना होगा, उसमें सौन्दर्य की उस मूलभूत अन्तश्चेतनाको जगाना होगा जो आनन्द की सृष्टि करती है। हमारी नित्यकी वेश-भूषा, गृह-सज्जा, शृंगार-प्रसाधन; हमारे परस्परके लोक-व्यवहार, बात-चीत, हमारी पल-पलकी प्रत्येक क्रिया, हलचल और आदतोंमें एक सुरुचि, सौन्दर्य, सुसंवादिता (Harmony) और कल्याणकी भाव-भंगिमा होनी चाहिए। इस सुषम रूप-व्यंजनाके भीतरसे जीवनका आत्म-योग सहज साध्य हो जाएगा। और भीतरके इस आत्मैक्य की स्थिति पर ही बाहरके जीवनका छन्द क़ायम रह सकेगा।

लोककी इस सुन्दर कल्याणी रचनाके लिए कलाकारको अपना एकान्त कक्ष छोड़, रचनाके क्षेत्रमें आना होगा। कागज, फलक, स्वर पाषाण, और तंतुओंमें व्यक्त होने वाले कला और शिल्पको लोक-जीवनके रुधिर-मांसमें व्यक्त होकर उसे ऐश्वर्य प्रदान करना होगा। लोकके इस आयतनका निर्माण करनेके लिए हमारा कार्य-क्रम रचनात्मक होगा। जन-जनके अपने श्रमसे उद्भावित रूप-रचनाके सहारे हमें लोक-हृदयका निर्माण करना होगा। हृदयके इस श्रेय-प्रेम निर्माण में से सहज ही लोकायतनका बाह्यरूप आनन्द, मंगल, कल्याण और सौन्दर्य की आभासे भर उठेगा। आज विश्वके भाग्य-विधाता बने हैं राजनीतिक। राजनीतिके शस्त्रागारमें प्रतिदिन नित नवीन शस्त्रों का निर्माण विश्व-कल्याणके नाम पर हो रहा है! व्यक्तियों और समूहोंके अहंकारों और स्वार्थोंके फौलादसे ढलनेवाले इन शस्त्रोंसे निर्माणके बजाय,

नाश ही अधिक हुआ है। कोई माने या न माने, विगत महायुद्धसे यह बात खूब अच्छी तरह सिद्ध हो गई।

इसीसे बापूने आजसे पच्चीस वर्ष पहले हमें जीवन की मौलिक और अमोघ क्रान्तिका पथ सुझाया था। उन्होंने कहा था कि देशके घर-घरमें चर्खा चला दो और स्वराज्य बिना आन्दोलनोंके, बिना मशीन-गनों और तोपोंके, बिना एक भी बूँद रक्त गिराए, घर बैठे चला आएगा। यह वही रचनात्मक कार्य-क्रमका मार्ग था। इस रास्ते पर पूरा अमल किए बिना ही, दुनिया की अन्य तूफ़ानी 'प्रगतियों' के अनुकरणमें अन्धे होकर हम बराबर गान्धीके चर्खे और उनके रचनात्मक कार्यक्रमों की सैद्धान्तिक आलोचना करते रहे हैं। हाँ, गान्धीजीके नेतृत्व और प्रभावका उपयोग करनेके लिए,समय-समय पर अवश्य हम रचनात्मक कार्यक्रमों की आड़में अपने पलायन और राजनीतिक गतिरोधोंको प्रश्रय देते रहे हैं। और आज भी तो हम यही कर रहे हैं। पिछले पच्चीस वर्षोंसे बराबर हम गाँधीको धोका देते रहे हैं। सत्य, अहिंसा और रचनात्मक कार्यक्रम जैसे आत्म-कल्याण और विश्व-कल्याणके पवित्र साधनोंको हमने मात्र अपनी राजनीतिक छद्म-लीलाका हथियार बना रक्खा है। परिणाममें जैसी घातक विफलताएं हमें मिली हैं, उसके लिए पिछले दो दशाब्दोंका हमारा राष्ट्रीय और अन्तर-राष्ट्रीय इतिहास साक्षी है।

हमें राजनीतिके इस मोहक माया-लोकसे बचना है। चुपचाप रचनात्मक कार्यक्रमके क्षेत्रमें जाकर हमें निर्माणमें जुट जाना है। केन्द्रमें खड़ा ज्योतिर्धर बापू हमें प्रति क्षण पुकार रहा है। उसीकी खींची कर्म-सृजनकी प्रकाश-रेखापर हमें चले चलना है। हमें आत्मिक स्वराज्यकी तैयारी करनी है। वह स्वराज्य जब तक स्थापित नहीं होता, तब तक बाहरसे प्राप्त होनेवाला स्वराज्य सच्चा स्वराज्य नहीं है। आज जो देश स्वतन्त्र हैं, दुनियाके सबसे शक्तिशाली देश माने जाते हैं, जिनकी शस्त्र-शक्ति अप्रतिम है और जो अटूट भौतिक सम्पदाके स्वामी हैं, वे भी हमारे स्वराज्यके अर्थमें स्वाधीन

देश नहीं हैं। सच्चा स्वराज्य तो किसी भी देशमें तभी सम्भव है जब वह न तो स्वयं ही शोषित और शासित हो और न आप दूसरेका शोषक और शासक हो। राजनीति और युद्धों द्वारा विश्वमें उस स्वराज्यकी स्थापना सम्भव नहीं, यह आज स्वयंसिद्ध सत्य बनकर हमारे सामने खड़ा है।

अब तो सद्भाव और आत्मैक्य पर आधारित जन-जनके श्रमसे लोक-रचनाके द्वारा ही हमें नवीन विश्वका निर्माण करना होगा। लोकायतन उसी दिशाका अग्रदूत है। राजनीतिकी तरह रचनाके क्षेत्रमें पार्टी, संगठन, दावे, घोषणाएँ, अल्टीमेटम, चुनौतियाँ आदि कषायोत्पादक और ध्वंसक साधनों को अवसर नहीं होगा। यहाँ तो मौन प्रेमके शांत आलोकमें निर्माणकी कला-साधना अनवरत चलती रहेगी। सैद्धांतिक विवादों और संघर्षोंका उसमें स्थान नहीं होगा। कर्मकी अग्नि-शिखामें अभेद चैतन्यकी ज्योति प्रकट होगी। मनोंके सारे कलुष उसमें आप ही जलकर भस्म हो जाएंगे।

लोकायतनका प्राथमिक आयोजन निम्न प्रकार हो सकता है:—

स्कूलों और कॉलेजोंके छात्रोंको ही सबसे पहले इस ओर आकृष्ट करना है। वही हों हमारे पहले स्नातक। यही कोमल किशोर और कुमार भावी संस्कृतिके सूत्रधार हैं। इन्हींके निर्मल मनोंमें सबसे पहले संस्कृतिका मंगल-दीप सँजोना होगा। उस आलोकसे फिर सहज ही समूचा लोक-जीवन प्रकाशित हो उठेगा। छात्रोंको इस ओर अभिमुख करनेका काम इस योजना से सहानुभूति रखनेवाले अध्यापकों द्वारा कराया जा सकता है।

एक ऐसा स्थान चुन लिया जाना चाहिए — जहाँ आसपास कुछ खुली ज़मीन हो, स्वस्थ, सुन्दर, प्रेरक वातावरण हो; और उस अहातेमें एकाध छोटा-सा मकान और सायाबान भी हो।

जीवन-यापनके प्रतिदिनके साधनोंके स्वाधीन उपार्जनसे लेकर समाजके सद्भावपूर्ण, मांगलिक निर्माण और कलाके परमानन्दमय, दिव्य स्वर्गके निर्माण तककी साधना हमें यहाँ करनी है। उसीका बुनियादी शिक्षण

लेनेके लिए ये प्राथमिक प्रयोग-शालाएं होंगी। यहाँ हम आत्मानुशासनका पाठ पढ़ेंगे। अपने पारस्परिक सम्पर्कों द्वारा सद्भावनापूर्ण जीवन-व्यवहार की साधना करेंगे। अपने दोषों और मनके कलुषोंकी परस्पर मुक्त आत्म-स्वीकृति कर जीवन व्यवहारको सरल, अकपट और स्वस्थ बनाएंगे। अपने सामूहिक साहचर्य द्वारा हम सामूहिक आत्म-परीक्षणकी आदत डालेंगे। दैनिक डायरी-लेखन इसके लिए अत्यन्त उपयुक्त साधन है। लिखते रहकर मिलनेके दिन परस्पर अपनी डायरियाँ हम सुना सकते हैं। मन, वचन और कर्ममें सहज आत्म-निवेदन और आत्मार्पण:—यही होगा हमारा आचरण-सूत्र।

नियत स्थानपर मिलनेके दिन निश्चित हो सकते हैं। रुचियों अथवा स्वभाओंके अनुसार समूहोंकी भी व्यवस्था हो सकती है। पहली चीज़ है सहज मिलन—उसीमेंसे अनायास प्रवचन भी सामने आ सकते हैं। आयोजित लेक्चर-बाज़ियाँ या बुद्धि-विलास अपेक्षित नहीं होगा। इस सम्पर्कमेंसे एक स्वस्थ, बलवान, निःस्वार्थ सामाजिक चेतना हममें जागेगी। त्याग, सेवा, सहानुभूति, सहकार और सहयोगका सामाजिक संस्कार हमारे भीतर जीवन्त हो सकेगा। संकीर्ण स्वार्थोंसे उद्भूत अपने सुख-दुखोंमें हम अकेले रहकर पीड़ित न होंगे—बल्कि अपने दुःख-संकट, रोग-शोकमें परस्पर त्याग, सेवा और सहयोगसे हम उस दुखको प्रायः निःशेष-सा कर देंगे। इसी आत्म-प्रेरित सामाजिक चेतनामेंसे सहज ही एक साम्य-धर्मी, शोषण-हीन समाजका उदय होगा।

जीवन-यापनके साधन स्वाधीन हों, इसके लिए जन-जनको श्रमिक हो जाना है। क्योंकि हमें सर्वहारा श्रमण-संस्कृतिकी स्थापना करनी है, जिसमें शोषण और पराधीनताकी सारी सम्भावनाओंको निर्मूल हो जाना है। आजके हम नागरिक सभ्य संस्कृतिकी उपज हैं। हमें अपने श्रम पर जीनेकी आदत नहीं है। हमारी जीविकाका आधार अन्ततः कहीं न कहीं जाकर शोषण

ही है । जीवन-यापनके साधनोंमें दो प्रधान चीज़ें हैं—अन्न और वस्त्र । इनके स्वाधीन उपार्जनके लिए हमें स्वयम् अपने शारीरिक श्रम द्वारा इनके उपार्जन-की आदत डालनी है । इसके प्राथमिक शिक्षण और अभ्यासके लिए हम बागबानीसे शुरू कर सकते हैं । इसमें फल-फूल, शाक-सब्ज़ी आदि उपजानेका काम हो सकता है । यहाँसे अपनी प्रगतिमें हम खेतों की ओर बढ़ सकते हैं। इस बागबानीमें जीवनके उत्पादक सौन्दर्य की प्रत्यक्ष सृष्टिसे हमें जो आनन्द प्राप्त होगा उसीमें सच्चे आत्मानन्दका परिचय छिपा है ।

वस्त्रके उपार्जन की दिशामें हम कताईसे प्रारम्भ करेंगे । हमारे 'लोका-यतन-मन्दिर' के कुछ चरखे होंगे, जहाँ बारी-बारीसे टुकड़ियोंमें आकर हमारे सदस्य कताईका प्रतिज्ञापूर्वक यज्ञ करेंगे । इसीमें आगे बुनाई भी आ सकती है ।

धीरे-धीरे हम एक शिल्प-कुटीरका निर्माण कर लेंगे जहाँ नाना गृहोद्योगों और हस्तशिल्पोंके द्वारा जीवनकी विभिन्न उपयोगी वस्तुओंके निर्माणके प्रयोग हम करेंगे । मिथ्या भद्रताके मर्यादा-बन्धनोंको तोड़कर जन-जनको श्रमिक हो जानेका अभ्यास और शिक्षण इस प्रकार सहज ही प्राप्त हो सकेगा ।

उद्योगवाद और यंत्रवादके आविर्भावके साथ मनुष्यके जीवनमें निष्प्रयोजन आनन्दके लिए मिलनका अवकाश नहीं रह गया है। ज्यों-ज्यों प्रकृतिसे दूर होकर इस विकृत यान्त्रिक सभ्यताके फौलादी ढाँचोंमें हमारा जीवन कसता गया है, त्यों-त्यों मानवीय आनन्दके वे सारे मुक्त स्रोत रुद्ध हो गए हैं। आए दिन नित्यप्रति होनेवाले मेले, उत्सव, पर्व, त्योहार दिन दिन म्लान होते गए हैं और बड़े-बड़े नगरोंमें तो बिलकुल ही तिरोहित हो गए हैं। छोटे गाँवों और क़स्बोंमें अब भी भिन्न-भिन्न ऋतुओं और पर्वोंके मेले और यात्राएँ होती हैं। बड़े उछाह-उमंगसे वर्ण-वर्ण विचित्र वस्त्रोंमें सजकर लोक-जन, पान-भोजन की सामग्रियां लेकर, उनमें सम्मिलित होने को उमड़ पड़ते हैं । अपना क़स्बा छोड़ जबसे मैं इस नगरमें आया हूँ, तबसे मुझे अपने क़स्बेमें होने वाला

वह आषाढ़ी पौर्णिमाका मेला, वे सखियोंकी सोमवारके श्रावणी मेले, वे गनगोरें, वे नागरिकाओं के गीत-गान, नाच और झालोंके सामूहिक आयोजन—सभी कुछ दुर्लभ हो गए हैं।

लोकायतनके द्वारा हमें जीवनके उस प्रकृत सामूहिक उल्लासको फिरसे जगाना होगा। इसके लिए भिन्न-भिन्न ऋतुओंमें हम ऋतु-उत्सव या ऋतु-पर्व मनाएंगे। ऋतुकी प्रकृतिके अनुसार ही इसमें भाग लेनेवालोंकी वेश-सज्जा होगी। ऋतुकी प्राकृतिक सुषमाके अनुरूप ही नृत्य-गान, लीला-क्रीड़ा, आमोद-प्रमोदका आयोजन होगा। जीवन की कृत्रिमताओंमें और सीमा-बन्धनोंमें बँधे रहनेवाले हमारे सम्वेदन और उच्छ्वास इन अवसरोंपर मुक्त होकर व्यक्त हो सकेंगे।

जीवनके उपयोगी शिल्प-व्यापारोंसे अवकाश पानेपर, हमारे भीतर एक निष्प्रयोजन और अशेष आनन्दकी माँग होती है। उसकी पूर्तिके लिए ललित कलाओंकी एक प्राणवन्त और ऊर्जस्वल रुचि हमें अपने भीतर जगानी होगी। इसके लिए हम अन्तर्कला-दलों और अन्तर्शिल्पियोंके समन्वित समाज स्थापित करेंगे। अर्थात् भिन्न-भिन्न कलाओंके प्रतिनिधि कलाकार और शिल्पियोंकी अलग-अलग टुकड़ियां हो सकती हैं। प्रत्येक कलामें व्यंजनाका एक न एक पहलू कमज़ोर होता है। उतने अंशोंमें उस कलाका कलाकार अपने भीतर एक अपूर्ति और अतृप्ति सदा अनुभव करता रहता है। अन्तर्कलाकारोंके इस समन्वयसे नित्यके पारस्परिक साहचर्यमें हम अन्य भगिनी कलाओंमें भी प्राथमिक प्रवेश पा सकते हैं। और व्यंजनाके इस 'अन्तरप्रान्तीय', समुच्चय और संगोपनसे प्रत्येक कलाकार अपनी कलामें एक नये ही प्रकारको ताज़गी, रस-शक्ति और वैविध्य-निरूपणकी सामर्थ्यका अनुभव करेगा दूसरे जलवायुका परिवर्तन जिस प्रकार हमारी भीतर-बाहरकी सारी प्रकृतिमें एक इष्ट नाविन्य, ताज़गी और स्वास्थ्य उपस्थित करता है, उसी प्रकार नाना कलाशिल्पियोंके भिन्न-भिन्न देशोंमें हमारा अबाध विचरण हमारी अपनी

कलात्मतामें एक अद्भुत मौलिकता और कल्पकताका संचार करेगा। रोज़के संघर्षमय जीवनकी मॉनोटोनीमें जो हमारी सृजक प्रतिभा कुण्ठित हो जाती है, और रह-रहकर जो मानसिक रुद्धता हमारे भीतर घर कर जाती है, वह तब सम्भव नहीं रहेगी। हमारा मानसिक धरातल सदा एक-सा उन्नत, स्वस्थ और चैतन्य रह सकेगा। विभिन्न कला-देशोंके फल-फूलोंसे हम सदा ताज़ा और स्वस्थ रहेंगे।

इस चीज़को मूर्त आधार देनेके लिए हम एक संग्रहालयका निर्माण करेंगे। इस संग्रहालयका नाम होगा 'कल्प-लोक'। यहाँ कागज़, फलक, पाषाण, मिट्टी आदिमें व्यक्त होनेवाले मानवके श्रेष्ठ सपनोंके निदर्शन हम एकत्र करेंगे। इस संग्रहके दो पक्ष होंगे। एक तो प्रकृतिमें से उपलब्ध होनेवाली दुर्लभ सौंदर्यसृष्टियाँ—जैसे नाना चित्र-मंडित, रंग-बिरंगे दुर्मूल्य पाषाण, मणियाँ, कीट-जन्तुओंके परित्यक्त घर, पक्षियोंके परित्यक्त पंख या नीड़, सीप, शंख, रंग-बिरंगी तितलियोंके शव या और और इसी प्रकारकी वस्तुएँ। दूसरा पक्ष है—प्रकृतिके सौंदर्यसे उन्मेषित, सम्वेदित होकर मानव द्वारा निर्मित दुर्लभ, दुर्मूल्य कलाकृतियां; जैसे चित्र, मूर्तियां, संसारके श्रेष्ठ चित्रों अथवा मूर्तियोंकी तस्वीरें, प्राचीन ग्रन्थोंकी हस्तलिपियाँ, पुरातत्वके अवशेष, श्रेष्ठ साहित्यका दुर्लभ ग्रन्थागार, विभिन्न वाद्य, अनेक प्रकारकी दस्तकारियां, कागज, धातु, पाषाण, मिट्टीकी बनी शृंगार-सज्जाकी नाना वस्तुएँ आदि कितनी ही ऐसी चीज़ें हो सकती हैं। इस प्रकारका संग्रहालय सचमुच ही एक कल्प-लोक होगा, जिसके वातावरणमें प्रवेश करते ही मनुष्यका मन अनेक ऊर्जस्वल स्वप्न-संवेदनोंसे भर उठे, उसके भीतर सृजनका अनिवारित अनुरोध जाग उठे। अपने सच्चे अर्थमें वह एक कल्प-लोक हो।

हमारा संग्रहालय कोई निरा म्यूज़ियम नहीं होगा। उसी वातावरणमें बैठकर हमारे स्नातक भिन्न भिन्न कलाओंका प्रसाद ग्रहण करेंगे। उस वातावरणमें रहते-रहते अपने रहनेके आवासोंको भी सुन्दर, सुरम्य कल्प-लोकमें परिणात करनेकी सहज शिक्षा और अन्तस्थ प्रेरणा उन्हें प्राप्त होगी। इस संग्रहालयका सम्बन्ध हमारे 'कुटीर-शिल्प-मन्दिर' से रहेगा। कुटीर—शिल्प-

मन्दिरमें हमारी यही जागृत और संस्कारित कलाभिरुचि औद्योगिक और उपयोगी रूप लेकर हमें जीविकोपार्जनकी शोषणहीन कला सिखाएगी।

यह हमारी परिकल्पनाके अनुरूप 'लोकायतन' की एक प्रारंभिक रूप-रेखा है। लोकायतन तो एक आत्मानुशासन-मूलक संस्था है। उसके लिए कोई कसा-कमाया सीमेंट-कॉंकरीटका विधान नहीं बनाया जा सकता। उसे तो अधिकसे अधिक सर्वोदयी, समभावी, प्राणवन्त और प्रगतिशील संस्था होना है। उसका मूलाधार विचारको न होकर आचारको होना है। ग़लत या सही आचार-कर्ममें से प्रसूत विचार ही स्वस्थ, तेजस्वी और जीवन्त विचार होगा। इसीलिए हमें तो रचनाका प्रारम्भ कर देना है। वैचारिक ऊहापोह और योजनामें पड़नेकी आवश्यकता नहीं है। लोकायतनका प्रारम्भ एक व्यक्तिसे भी हो सकता है। विज्ञापन, दावे, घोषणाओं और उद्घाटनोंकी आवश्यकता नहीं है। न संगठनों और मोर्चेबन्दियोंकी ज़रूरत है।

लोकायतनको धन अपने कर्म, त्याग और सेवाके बलपर खींच लेना है। प्रारम्भमें अपने प्राथमिक साधनोंको जुटानेके लिए हमें वैयक्तिक, छोटे-छोटे एक-एक वस्तुके दान स्वयं देना और प्राप्त करना है। उदाहरणार्थ, अपने संग्रहालयके प्रारम्भमें हम अपने कलाप्रेमी मित्रोंसे एक-एक दुर्लभ कलावस्तु की माँग करेंगे। मुझे विश्वास है, एक ही बारकी माँगमें विपुल कलासामग्री एकत्र हो सकती है।

देशके कलाकार और शिल्पीबंधुओंसे हमारा विनम्र अनुरोध है कि स्थान-स्थानपर अपनी-अपनी परिकल्पनाओं, रुचियों और सुविधाओंके अनुसार वे नवीन लोक-रचना और लोक-मानस-संस्कारके इस मांगलिक अनुष्ठानका प्रारम्भ करें।

राजनीति और युद्ध-संघर्षोंसे नहीं, स्वाधीन श्रम और रचनाके द्वारा कला-शिल्पसे लोक-मानसका संस्कार करके ही हमें नवीन मानवताका निर्माण करना है: यही है लोकायतनका मंगल-सूत्र।

★

सार्वभौम रोम्यां रोलाँ

'वीणा' के रोम्यां रोलाँ-अंक पर श्री महादेव साहाकी दो-एक समीक्षाएँ 'विशाल-भारत' में पढ़नेको मिलीं। कुछ ऐसा मालूम होता है कि 'वीणा' ने रोलाँके जिस अन्तर्मुखी और आत्मस्थ व्यक्तित्वको सामने रखा है, वह श्री साहाको एकदम असह्य हो उठा। जैसे व्यक्तित्वकी उस परोक्ष सत्ता-को वे एकदम मिथ्या कहकर इनकार कर देना चाहते है। स्पष्ट ही यह आग्रह उनमें कम्यूनिज़्मकी ओरसे है।

मुझे कुछ ऐसा लगा कि श्री साहा रोम्यां रोलाँके व्यक्तित्वको अनासक्त होकर नहीं देखा पा रहे है। उनके बुद्धिवादी होनेके नाते हम उनसे तो और भी अधिक तद्गत् (Objective) दर्शनकी आशा करते हैं। रोम्यां रोलाँ जैसे विश्वात्मा व्यक्तित्वको एक वाद-विशेषके फ्रेममें फिट करके जाँचना अनजाने ही उस व्यक्तित्वको उसकी विश्व-व्यापकताके धरातलसे नीचे ले आना है। रोलाँकी 'By way of Social Revolution to peace' पुस्तक

हमने नहीं पढ़ी है। पर उसके बिना भी पठित-वर्गमें यह एक बहुत मोटे रूपसे जानी-मानी बात है कि अपने जीवनके उत्तर-कालमें रोम्यां रोलाँ एक ऑफीशियल कम्यूनिस्ट भी हो गए थे। मेरे ख्यालमें यह तो कोई बहुत विवादास्पद बात नहीं है; बौद्धिक वर्गमें जिन्हें रोलाँमें दिलचस्पी रही है, वे प्रायः सभी यह बात जानते हैं। प्रश्न तो यह है कि रोम्यां रोलाँ पीछेसे एक मात्र कम्यूनिस्ट 'ही' हो गए थे या कम्यूनिस्ट 'भी' हो गए थे ? यह 'ही' तो एकान्तिक प्रस्थापना है और वह व्यक्तित्व या वस्तुके एक पहलू या धर्म-विशेषको स्वीकार कर उसके अन्य सब धर्मों या पहलुओंसे इनकार कर देती है। इस 'ही' से व्यक्तित्वका समग्र आकलन या दर्शन नहीं हो पाता। पर 'भी' अनेकान्तिक अभिव्यक्ति है। उसमें व्यक्तित्वं या वस्तुके अनन्त धर्मों और पहलुओंको अनजाने ही स्वीकृति दे दी गई है। अनासक्त अनेकान्त दृष्टिसे समूचे सत्यका आकलन होता है और मोहासक्त एकान्त दृष्टि सत्यके एक पहलू विशेषको ही पकड़ पाती है। मेरे विचारमें प्रस्थापना यह होनी चाहिए कि—रोम्यां रोलाँ कम्यूनिस्ट 'भी' थे। पर कम्यूनिस्ट 'ही' थे, यह कहकर तो उस व्यक्तित्वकी जो सर्वोन्मुखी महान् अभिव्यक्ति हुई है, उसकी अव्याहत व्यापकतासे इनकार कर देना है। रोम्यां रोलॉको मैं उन प्रातःस्मरणीय ऋषि-कल्प व्यक्तित्वोंमें मानता हूँ जो अनाहत सत्यके दूत बनकर धरतीपर अवतरित हुए हैं। सत्य अपनी स्थितिमें सम्पूर्ण एक और अभेद है, पर अपनी अभिव्यक्तिमें वह अनन्त है। ठीक उसी तरह उस सत्यके सन्देश-वाहक व्यक्तित्व भी अपने मूलमें अभेदरूप से एक होकर अपनी अभिव्यक्तिमें अनन्त होते हैं। ऐसे ज्योतिष्मान व्यक्तित्वोंकी ये सारी विभिन्न दीखनेवाली अनन्त कलाएँ उसके परम-तम् एकका ही विविध-रूप-मय प्रकाश है। देश-कालके नव-नवीन परिणमन-परिवर्तनके अनुरूप नव-नवीन ज्ञानका प्रकाश लेकर आत्मदेवता की ये कलाएँ प्रकट होती हैं। सत्य को लेकर जो ये नाना वाद और मत-मतान्तर चल रहे

हैं ये हमारी बुद्धि-सीमा और एकान्तिक आसक्त दर्शनके कारण हैं। यह जो आग्रहशील 'ही' है—यही इन मिथ्या भेदो और विकल्पों को जन्म देता है। मोह-मुक्त सापेक्ष दर्शनमें समग्र सत्यकी स्वीकृतिका बोध मिलता है और उसमें हमारी अभिव्यक्ति सीमित और अवरुद्ध नहीं हो जाती। वह प्रगतिशील (Dynamic) और व्यापक होती है।

रोम्याँ रोलाँ पीछे जब ऑफीशियल पार्टी-सदस्य हो गए तब क्या उन्होंने अपनी पुरानी सारी निष्ठाओं और अभिव्यक्तियोंका प्रत्याख्यान कर दिया था ? यदि उनकी ऐसी कोई अभिव्यक्तियां या उद्घोषणाएँ हुई हैं तो उन्हें सामने लाया जाना चाहिए ताकि उनके व्यक्तित्वका सही-सही अन्दाज़ा करनेमें हमें मदद मिल सके। यों तो जिस दिनसे यूरोपके आकाशमें सर्वहारा की क्रान्ति की पुकार उठी उसी दिनसे रोम्यां रोलाँ सर्वहारा की मुक्ति और कल्याणके ज़बरदस्त समर्थकोंमें रहे हैं। बार-बार उन्होंने बड़ी ही ज्वलन्त उद्घोषणाएँ उस सम्बन्धमें प्रकाशित की हैं। केवल उद्घोषणाएँ ही नहीं, सर्वहारा की क्रान्ति को ही मौजूदा विश्वका सबसे बड़ा कर्म-यज्ञ बना देनेके लिए उन्होंने अपनी सारी शक्तियां लगा दी थीं। 'I will not rest' के लेखनकालमें भी वे कम कम्यूनिस्ट नहीं थे। केवल पार्टी लेबल लगा लेनेसे ही कोई आदमी ज़्यादा कम्यूनिस्ट नहीं हो जाता और कम्यूनिस्ट होकर वह निःशेष नहीं हो जाता। कम्यूनिज़्म या किसी भी इज़्मका यह मतावरोध ही, अपनी प्रगतिशीलतासे इनकार कर देना है। बहिर्मुख कर्म-क्षेत्रमें कम्यूनिस्ट ही सर्वहाराके परित्राणका ध्वज लेकर चल रहे थे—इसलिए कर्म-क्षेत्रमें कर्मयोगी रोम्यां रोलाँ निःसंकोच कम्यूनिस्टोंके साथ कन्धा मिलाकर खड़े हो गए। पर इसका अर्थ यह तो नहीं है कि उन्होंने अपनी सारी अन्तर्मुखी उपलब्धियों (Realisations) और निष्ठाओंसे इनकार कर दिया था। रामकृष्ण, विवेकानन्द और गान्धीके जीवन-वृत्त अन्तर्योगी रोलाँने जिस विश्वानुभूति और तन्निष्ठताके महान धरातलपर से लिखे हैं,वह सारे तर्कों और विवादोंसे परे है।

व्यक्ति रोम्यां रोलां यदि पीछे किसी 'वाद' विशेषकी बौद्धिक सीमासे आसक्त होकर अपने उस विश्वात्मयोग की परम सिद्धिपर वितर्क-विकल्प कर गए हों अथवा उससे इनकार भी कर गए हों, तब भी हम कुछ बहुत खो नहीं देते। व्यक्तित्वमान रोम्यां रोलांका वह पहला ऐश्वर्य या आत्मप्रकाश हमारे लिए तब भी वैसा ही अक्षुण्ण और अमृतमय है। व्यक्ति खण्ड होता है, व्यक्तित्व समग्रके संगोपनका प्रतीक होता है। कलाकार रोम्यां रोलां चाहे 'ज्यॉं क्रिस्तें,फ़' में हों अथवा अपने जीवन-वृत्तोंमें हों या अपनी अन्य कृतियोंमें हों, वे सदा हृदय और आत्मोन्मेषकी मर्मवाणीमें बोलते हैं। वह वाणी सहज ही आत्मज्ञानसे प्रबुद्ध थी। बाहरसे बौद्धिक भेद या विकल्प देखनेका आग्रह उन्हें कभी नहीं रहा। अपने जीवनकी अन्तिम सांस तक वे भेदमुक्त, सार्वभौम मानवताकी स्थापनाके लिए लड़ते रहे। सारे मत-मतान्तरोंसे परे वे तो विश्वात्माके उपासक थे। राष्ट्र-भेद, वर्ण-भेद, जाति-भेद, मत-भेद,धर्म-भेद, वर्ग-भेद आदिकी इस खण्ड-खण्डताके विरुद्ध एक जीवन्त-विद्रोहकी अग्नि-शिखाकी तरह ही वे आजीवन बलते रहे। आत्मैक्यकी ऐसी उन्मेषिनी और मार्मिक वाणीमें आजीवन वे बोलते रहे, कि उनकी जैसी व्यापक व्यक्तिमत्ता को मतभेदके बन्धनोंमें बांधना तो उनकी महानतासे ही इनकार कर देना है। यह तो कुछ-कुछ वैसा ही हो जाता है कि किसी पैग़म्बरके दुनियासे उठ जानेके बाद जैसे उसके अनुयायी अपने-अपने व्यक्तिगत या सामूहिक स्वार्थोंके कारण, उसी एक पैग़म्बरके नामपर अनेक मत चलाकर उस हुतात्माके व्यक्तित्वपर खींचातानी करते हैं। आजके जागृत और मोह-मुक्त ज्ञानसाधनाके युगमें यह दृश्य असंगत और अनिष्टकर मालूम होता है।

अतएव श्री साहासे मेरा सविनय अनुरोध है कि हम दिवंगत मनीषी रोम्यां रोलांके सर्वोन्मुखी व्यक्तित्वकी पूजा अपनी-अपनी निष्ठा और भावनाके अनुसार करें। वे आत्मवादी ही थे या अनात्मवादी ही थे—इस विवादमें पड़ना तो मोहासक्तिका सूचक है और वह कुछ बहुत स्वस्थ बात नहीं है।

'वीणा' में उनके व्यक्तित्वका जो पहलू रक्खा गया है, उसके प्रति हमें यह आग्रह ज़रा भी नहीं है कि वे 'यही' थे, हम तो केवल यही कहना चाहते हैं कि वे यह 'भी' थे।

अन्तमें श्री रोलांके ही शब्दोंमें हमारी एक अपील है—"आत्मैक्य, जो कि जीवित है और निरा परोक्ष नहीं है, वही इस सबका सार है। मैं उसीकी पूजा करता हूँ, और वही है जिसे बड़े से बड़े आस्तिक और बड़े से बड़े नास्तिक अपने भीतर लेकर चल रहे हैं और जानमें या अनजानमें समान रूपसे उसकी पूजा करते हैं।"

अनर्थों की जड़ : अर्थ

(श्री आर्किंचनकी डायरीसे)

परिचयः मित्र 'अकिंचन' पिछले तीन-चार बरससे बम्बईके क़रीब ही पश्चिमी घाटके जंगलोंमें अज्ञात-वास कर रहे हैं। सन् ४२ के विप्लवमें तीन गोलियां पचा लेनेके बाद वे भूमिगत हो गए थे। वहां रहकर कुछ दिन काम करनेके बाद ही उन्होंने निर्वासन ले लिया। उन्होंने अपने भीतर यह तक़ाज़ा महसूस किया कि इस धुआंधार संघर्षके बीच सही और अनासक्त मार्ग-दर्शन पानेके लिए, स्वयम् कुछ ऊपर उठकर इसे देखना होगा। उन्हें दीखा कि राजनीति और युद्धोंमें होकर विश्वके कल्याणकी कोई सूरत नहीं पैदा हो रही है। इन रास्तोंसे उलझन उलटे बढ़ती जा रही है, अहंकारों और स्वार्थोंकी गुटबंदियां दिन ब दिन ज़ोर पकड़ रही हैं। दुनियाके सबसे बड़े शक्तिशाली राष्ट्र इंसानियतके आत्म-नाशकी सबसे बड़ी तैयारियां कर रहे हैं। आदमी आदमी नहीं रह गया है, वह तो मात्र एक गिरोहका पशु हो गया है। दुनियाके सबसे अधिक उन्नत और प्रगतिशील राष्ट्र पशुओंकि

भुगडोंकी तरह एक दूसरेको फाड़ खानेमें दिन रात लगे हुए हैं। व्यक्तिकी स्वतन्त्र चेतना नष्ट हो गई है।

तब ज़रूरत है कि कुछ व्यक्ति थोड़े समयके लिए अपनेको इस संघर्ष से अलहदा हटाकर आत्मस्थ हो लें और इन्सानियतके बुनियादी आत्म-निर्माणकी राह खोज निकालें। दुनियाके अबतकके सभी पैग़म्बरोंको रोशनी पानेके लिए, कुछ समय तकके लिए आत्म-निर्वासन लेना पड़ा है। और वहाँसे लौटकर फिर उन्होंने दुनियाको सही रास्ता दिखाया। क्राइस्ट एक वर्षतक गेलिलीके जंगलमें ग़ायब रहे। मोहम्मदको हीराकी पहाड़ियोंमें इल-हाम हुआ। बुद्ध और महावीर भी राजमहल छोड़कर प्रकाश पानेके लिए बरसों जंगलोंमें भटकते रहे।

पर हम देख रहे है कि हमारे युगके मसीहा गांधीने यह नहीं किया। तब हमारे मनमें प्रश्न उठता है : क्या यही कारण है—कि पृथ्वीकी सबसे बड़ी व्यक्तिमत्ता गांधीकी अहिंसा और उसका विधायक मार्ग आजकी इस दुनिया को अपील नहीं हो रहा? और तो और गांधीजीके अपने नेतृत्वमें चलनेवाली कांग्रेस तकने अहिंसाको माननेसे इनकार कर दिया—और यह नौबत पेश आई कि गांधीजीको यह कहना पड़ा कि काँग्रेसके विधानमें से 'अहिंसा और खादी' के क्लॉज़ हटा दिए जाएं! हमारे युगकी और हमारे देशकी इससे बड़ी और दर्दनाक ट्रेजेडी और क्या हो सकती है?

यह इसलिए सम्भव हुआ कि पैग़ंबर गांधी कांग्रेसका नेतृत्व नहीं कर पा रहा है, बल्कि काँग्रेसका राजनीतिक हाई-कमान्ड गांधीके आध्यात्मिक प्रभुत्वका दुरुपयोग करके उससे मन चाहा करवा रहा है। और यह इसलिए सम्भव हुआ कि पूज्यपाद बापूजी अपने अमोघ सुदर्शन चर्खे और अहिंसापर राजनीतिक काँग्रेसके साथ जाने-अनजाने बराबर समझौता करते गए हैं। परिणाम यह हुआ कि मसीहा गांधी भी राजनीतिके दुश्चक्र (Vicious

Circle) में पड़कर व्यभिचरित हो गया। आज भी वह अपनी धीर गम्भीर वाणीमें अहिंसा और रचनात्मक कार्यक्रमकी बात कहता रहता हैं, पर काँग्रेस उसके प्रति बहरी है और इसीसे यह अभागा देश उससे कोई लाभ नहीं उठा सका है। बार-बार काँग्रेस गांधीको दिल्ली और शिमले तक खींचकर ले गई है और इस सब झमेलेमें गांधीके बुनियादी निर्माणके कार्यक्रमकी बराबर अवज्ञा होती गई है।

इस बीच जब-जब भी मित्र 'अकिंचन' से भेंट हुई है, बड़ी वेदनाके साथ उपरोक्त बातें मैंने उन्हें कहते सुना है। इसी विचार-मंथनने मित्र 'अकिंचन' को क्षेत्र राजनीति की सड़ांधसे निर्वासन लेनेको बाध्य कर दिया और अपनेको अधिकसे अधिक आत्मस्थ और स्वस्थ करनेके लिए उन्होंने जंगलकी राह पकड़ी। अभी तो वे सम्पूर्ण रूपसे एकान्तवास कर रहे हैं। महीनोंमें एकाध बार उनसे भेंट हो पाती है। मिलते-बोलते बहुत कम हैं। प्रायः मौन रहते हैं। कहते हैं—'दर्शन' जब तक पूरा नहीं हो जाता, देनेको कोई योजना उनके पास नहीं है। अभी पिछली बार जब भेंट हुई थी, तो रातभर उनकी कुटीमें विश्राम करनेका सौभाग्य मुझे मिला था। तभी दुबके-चोरी उनकी डायरीके कुछ प्रारंभिक अंश मैं नकल कर लाया था। वही नीचे प्रस्तुत हैं। यदि पा सका तो अगले हिस्से भी भविष्यमें इसी तरह प्रकाशित करूँगा। अस्तु।—लेखक

डायरी

आजके मनुष्यो, आजके श्रमिको और आजके समझदारो, मैं आज आपसे बोलना चाहता हूँ। मैं आपसे अलग कहीं कुछ नहीं हूँ। मैं आप ही के भीतरकी आवाज़ हूँ जो आपसे खुलकर बात किया चाहती है! मैं आप ही के भीतरकी वह आत्मा हूँ जो बाहरसे सैकड़ों ताक़तोंकी जंज़ीरोंसे बँधी है, इसीसे उसकी आवाज़ भीतर ही भीतर घुटकर रह जाती है; वह

बाहर नहीं आ पाती। उन बाहरकी सारी बन्दिशोंको तोड़कर आपकी वह आत्मा आपसे बातचीत किया चाहती है। मैं किसीसे बड़ा नहीं हूँ और न किसीसे छोटा ही हूँ। क्योंकि सबमें जो एक है, सबका जो सार है,सबको जो जोड़ता है—वही मैं हूँ। चाहें तो आप उसे ईश्वर कह लें, चाहें तो आत्मा कह लें, चाहें तो शक्ति कह लें। इसीसे दुनियाकी बड़ीसे बड़ी दीखनेवाली ताक़तसे मैं बड़ा हूं और एक मिट्टी के कणसे भी मैं छोटा हूँ। ग़रज़ यह कि बड़े और छोटेका ख्याल ही नहीं है, जबकि मैं सबकी आत्मा, सबका हृदय और सबकी आवाज़ हूँ।

मैं चाहता हूँ कि आप अपनेको पहचानें, आप अपनी शक्तियोंको पहचानें। इस रोज़की मार-काट और छीना-झपटीसे आप तबाह हो गए हैं। बड़ीसे बड़ी समझदारी और ज्ञान पैदा करके आजकी दुनिया, आजका आदमी अपनी ही छातीमें छुरा भोंक रहा है। सारी समझदारीके बीच क्यों पैदा हुई है यह नादानी, यह बेवकूफ़ी ? क्यों बलवान कमज़ोरकी छातीपर चढ़ा बैठा है ? क्यों धनवान धनवान है और ग़रीब ग़रीब है ?

इसलिए कि आत्मा-आत्माके बीचकी एकता टूट गई है। सब अपने को अलग-अलग मान रहे हैं। तब सभीको अपना मतलब बनानेकी फ़िक्र पड़ी है। एक स्वार्थका ही सिक्का चल रहा है। जहाँ आदमीसे आदमी अगर मिला हुआ भी दीख रहा है, तो उनके बीचका रिश्ता महज़ स्वार्थका ही रिश्ता है। राष्ट्र, समाज, देश, जातियाँ सबकी बुनियाद उसी स्वार्थपर टिकी है, जिसने आदमीसे आदमीको, प्राणीसे प्राणीको तोड़ दिया है। मनुष्य मनुष्यके बीच ममता, माया, प्रीति और अपनत्वका भाव नहीं है। उनको बाँधकर रखनेवाली चीज़ सिर्फ एक है—स्वार्थ। किसका साथ देनेमें हमारे अपने स्वार्थकी रक्षा है, बस इसीपर हमारे रिश्तोंकी तौल बंधी हुई है। इसी जांच-पड़तालमें आदमीकी सारी समझदारी आज खत्म है। तब सवाल

उठता है, आत्माको आत्मासे तोड़नेवाली वह ऐसी ज़बरदस्त बाहरी ताक़त कौन सी है। ? वह है अर्थ, जिसको हम धन-सम्पदा कहते हैं—और हमारे रोज़के लेन-देनके व्यवहारमें जिसका प्रतिनिधि है पैसा। इसी अर्थके दिन ब दिन बढ़ते हुए लोभने मनुष्यत्वके टुकड़े-टुकड़े कर दिए हैं।

आज ज़िन्दा आदमीसे बेजान पैसेकी क़ीमत ज़्यादा बड़ी है। ज़िन्दा आदमी उस बेजान पैसेसे ख़रीदा जा सकता है। यानी चलन आज आदमी का नहीं, पैसेका है। आदमी तो सिर्फ़ भूतकी तरह चलता फिरता दीख रहा है—उसके भीतर जो रूह है, ताक़त है—वह पैसा है। यानी पैसा आदमी को मिटाकर स्वयम् उसकी आत्मा बन गया है।

इसीसे आदमी-आदमीके बीचका जो आज रिश्ता है, वह महज़ पैसेका रिश्ता है। पैसेके लेखे ही आज आदमी छोटा है और बड़ा है, धनवान और ग़रीब है, लायक़ और नालायक़ है, पापी और पुण्यात्मा है। उसीके कारण कुछ लोग ज़ालिम हैं तो कुछ मज़लूम हैं, कुछ शोषक हैं तो कुछ शोषित हैं; कुछ मालिक हैं तो कुछ मज़दूर हैं। उसीको लेकर आज राष्ट्रों और जातियोंके बीच आए दिन रोज़ लोहे टकरा रहे हैं, और कीट-मच्छरकी तरह आदमीको पीसकर उस पैसेकी ताक़तको बढ़ानेके उपाय चल रहे हैं। आज लड़ाई महज़ धरती और उसके स्वामित्वके लिए नहीं है। पुराने दिनों की तरह महज़ अपने वीरत्व और आन-बानको क़ायम रखनेके लिए आज आदमी नहीं लड़ता। उस धरतीसे जो सम्पदा मिलेगी—और सिक्केके रूपमें उसकी जो ताक़त बनेगी—उसीको बढ़ानेके लिए ये बड़ी-बड़ी लड़ाइयाँ चल रही हैं।

जीवन चलानेके लिए, अपनी ज़रूरतकी चीज़ें धरतीसे लेकर, उपजा कर जब तक आदमी काम चला लेता था, तब तक उन चीज़ोंसे आदमी अपनी क़ीमत ज़्यादा बड़ी मानता था। तब उसकी सबसे बड़ी वासना थी स्वमान, उसकी अपनी इज़्ज़त। मगर अपनी इज़्ज़तके लिए वह इन

चीज़ोंका क़ायल नहीं था। मगर ज्यों-ज्यों आदमीमें संग्रहका भाव बढ़ा—उन चीज़ोंकी मालकियतमें वह अपना बड़प्पन अनुभव करने लगा। तभी उसको अपनत्वका भान हो गया। जब तक आदमीकी ज़रूरतें नहीं बढ़ीं, तब तक तो वह ज़रूरतकी चीज़ोंको एक दूसरेसे अदल-बदलकर अपना लेन-देन चला लेता था, लेकिन जब उसकी ज़रूरतें बढ़ चलीं तो वह बहुत-सी नई-नई चीज़ें बनाने-उपजाने लगा। उन्हें इकट्ठा करके अपने पास भी रखने लगा। धीरे-धीरे इन चीज़ोंके अन्दर दूसरेकी मांगके बलपर, एक चीज़से उसकी चौगुनी चीज़ बना लेनेकी ताक़त अनुभव करने लगा। यहीं आकर उसका लोभ और घमयड बढ़ चला। मिल्कियत क़ायम हो गई। तब चीज़की इस ताक़तको उसने सिक्केमें बांधा। यानी सिक्का उस ताक़तका प्रतिनिधि बन गया।

सिक्केका संग्रह, रुपएका संग्रह पूंजी बना और उसीसे यह पूंजीवाद आ गया। सिक्केके चलनने धनकी ताक़तको एक स्थायित्व दे दिया। सिक्केमें यह ताक़त आ गई कि वह चाहे जब समयकी मांगके अनुसार चाहे जिस चीज़को खरीदकर, एकके चौगुने, अठगुने कर सकता है। सिक्केके सञ्चयने ही अपने लम्बे विकासमें जाकर केन्द्रीय उद्योग और पूंजीके केन्द्रीकरण यानी पूंजीवादको पैदा किया है।

इस बीच कुछ लोगोंने कहा कि पूंजीवादको मिटा दो। मगर उन्होंने पूंजीवादकी जड़ जो आर्थिक रिश्ता है—उसे नहीं छोड़ा। जड़में उन्होंने आदमी-आदमीके बीचका जो आखिरी रिश्ता है, वह अर्थका ही रिश्ता माना। आदमी आदमीसे जुड़ा है, अर्थके ही सूत्रसे। 'उत्पादक शक्ति' और 'उत्पादन सम्बन्ध' ये दो वे सूत्र थे—जो उन्होंने आदमियतके मूलमें से ढूंढ-कर निकाले हैं। उनके बीच प्रेमका या आत्माका कोई एक और अटूट सम्बन्ध उन्हें नहीं दीखा। नतीजा यह हुआ कि विग्रह नहीं मिटा। मिल्कियत सिर्फ़ एक गिरोहसे दूसरे गिरोहकी तरफ़ बदल दी गई। इसीसे राष्ट्रीयता,

जातीयता, वर्ग, इन्हींके विग्रहोंके बीच वे अटके हैं। पैसेका मूल्य, अर्थका मूल्य वहाँ भी आदमीसे बड़ा बना बैठा है। वह व्यक्ति और 'वर्गकी ताक़त न रहकर अब एक राष्ट्रीय ताक़तके रूपमें आ गया है, मगर सबसे बड़ी क़ीमत और ताक़त है वही—अर्थ। उसीको राष्ट्रीय पैमानेपर क़ायम रखनेके लिए कई आस-पासके राष्ट्रोंकी बलि वह मांग सकता है—लाखों करोड़ों अपने आदमियोंकी बलि वह दे सकता है! तब यही समझमें नहीं आ रहा है कि आदमी अर्थके लिए है या अर्थ आदमीके लिए?

तब मैं कहना चाहता हूँ कि आजका नारा सिर्फ़ एक ही हो सकता है—'अर्थवादको मिटा दो, अर्थकी क़ीमतसे इनकार कर दो, उसकी महत्ताको अस्वीकार कर दो'—मतलब उसकी उचित ज़रूरत और उपयोगको स्वीकार करो। 'पूंजीवादका नाश' इसमें आप ही हो जाएगा। मगर जड़में अर्थके रिश्ते को ही मूल मानकर तो हम पूंजीवाद को ही गुणानुगुणित कर रहे हैं। यह आदमी आदमीके बीचकी दुश्मनी, यह बड़े और छोटेकी रगड़, यह मालिक और मज़दूरका विरोध, ये इतनी बड़ी-बड़ी खूंख्वार लड़ाईयां, यह वर्गके द्वारा वर्गका और राष्ट्रके द्वारा राष्ट्रका शोषण, ये साम्राज्यवाद और फ़ासिज़्म तब तक क़ायम रहेंगे—जब तक हम अर्थकी अन्तिम महत्तासे इनकार नहीं कर देते। इस अर्थवादी मूल्यका उच्छेद कर दीजिए, पूंजीवाद तो आप ही मिट जाएगा।

और यह अर्थकी महत्ताका भूत घुसा बैठा है—हमारे भीतरकी तृष्णाओंमें। हम भीतरसे तृष्णार्त्त हैं, इसीसे धनवानोंको सम्मुख पाते ही हम अपनेको छोटा अनुभव करने लगते हैं। जाने--अनजाने ही धनकी महत्ता हमें आतंकित और प्रभावित करती है। हमारी तेजस्विता और प्रखरता उसके सम्मुख टिक नहीं पाती; हम अपनी ही निगाहोंमें अत्यन्त हीन और दयनीय हो पड़ते हैं। इसलिए कि अर्थकी महत्ताका अब भी हमारे हृदयसे उच्छेद नहीं हुआ है। अभी भी हम धनकी शक्तिके कायल है। व्यवहारमें

हम उसके साथ समझौता करना चाहते हैं। लिहाज़ और मुरव्वतकी अपनी कमज़ोरीको अपने विनय-भाव और अपनी सहनशीलताके आवरणमें निभा ले जाना चाहते हैं। पर जरा गहरे जाकर, अपना ही आपरेशन करके देखें तो पाएंगे कि विनय और शील वहाँ नहीं है। वहाँ तो किसी गहरे स्वार्थसे प्रेरित लिहाज़ और मुरव्वत है। कभी-कभी हम अहिंसाके नामपर भी धनिककी चापलूसी अपने अनजाने ही कर जाते हैं। साफ़ है कि हम धनिककी महत्ताके अंगूठेके नीचे अभी भी दबे हैं, इसीसे हम उसे बर्दाश्त किए जा रहे हैं। धनिककी बड़ीसे बड़ी बेवकूफ़ी और सनकमें भी हमें व्यक्तित्वकी किसी गहरी सचाईकी तलाश होती है। और अकिंचनके भीतर नम्रतामें छुपे पड़े बड़ेसे बड़े गुणोंकी भी वर्षों अवज्ञा होती रही है। और ऐसे भी निर्धन और निःस्व गुणी देखे गए हैं, जिनका प्रकाश दुनियाने कभी नहीं जाना और आप भी अपने प्रकाशसे अनजान रह, जाने कब कहाँ वे मिट गए।

तो सारी तकलीफ़की जड़ है यह अर्थवाद। सबसे पहले इस आर्थिक दृष्टिकोणको ही खत्म कर देना है। इसका प्रारम्भ हो व्यक्तिसे। चाहे जितनी ही पीड़ित परिस्थितिमें व्यक्ति क्यों न हो, उसके भीतर एक आत्मश्रद्धा जागनी चाहिए। उसके भीतर यह दृढ़ प्रतीति हो कि उसके भीतर जो आत्मा है—वह सबका प्रतिनिधि है। वह सबका है और सब उसके हैं। यही उसकी सबसे बड़ी शक्ति है और इस शक्तिका विस्तार प्रेममें होकर है। जीवन मात्रके प्रति वह अपनेको उत्सर्गित माने। अपनेको बचानेका, अपनेको रखनेका आग्रह उसमें निःशेष हो जाना चाहिए। अपनी आवश्यकतासे अतिरिक्तका संचय वह नहीं करेगा, वह नहीं माँगेगा। उसके भीतर तृष्णाकी आर्तता नहीं होगी, इसीसे वह दूसरेकी दृष्टिमें और अपनी दृष्टिमें बेचारा और दयनीय नहीं होगा। तब बाहर की बड़ीसे बड़ी शक्तिके सम्मुख, वह अप्रभावित और अटल रहेगा; उसका स्वर नहीं बदलेगा। और तभी वह व्यक्ति होगा जो धनकी महत्तासे, अर्थकी

महत्तासे इनकार कर सकेगा। सत्ता और धनकी पाशवी ताक़तोंको जड़से उखाड़ फेंकनेके लिए, वह अदम्य आत्मबल और तेज हमें अपने अन्दर पहले पैदा कर लेना होगा। हम जान लें कि इस युद्धमें समझौता नहीं है। क्योंकि यह युद्ध व्यक्तिसे नहीं है—यह तो जड़ शक्तियोंको प्रतिरोध देना है, और व्यक्तिको तो अपनी ओर तोड़ लेना है। व्यक्तिसे शत्रुत्व करके हमें अन्तहीन विग्रहकी जंजीर नहीं बनानी है, जो हमें उल्टी जकड़ती ही जाएगी। हमें तो व्यक्तिकी मनोभूमिका ही बदल देना है। व्यक्तिकी आत्मा जो उस जड़ धन अथवा सत्ताकी ताक़तसे दबकर अलोप हो गई है—उसे जगा देना है। उसके अन्दर मनुष्यके सुख-दुखका दर्द पैदा कर देना है। फिर तो आप ही सब ठीक हो जाएगा।

पर जहां इसके लिए एक ओर प्रेम, नम्रता और आकिंचन्य लेकर चलना है, वहां दूसरी ओर हमें सहज ही अनासक्त, कठोर और निर्मम होकर भी चलना पड़ेगा। व्यक्तिके आत्म-निर्माणकी कसौटी है समाज। उसके आत्म-निर्माणका फल हमें समाजमें प्रतिफलित दीखना चाहिए, यही उसकी सार्थकताका प्रमाण है। उसके व्यक्तित्वका यह प्रभाव उसके रोज़के सम्पर्कों और सम्बन्धोंमें होकर समाजकी जड़ोंमें पहुंच सकेगा। समाजकी नवीन संघटनाकी जो प्रेरणा उसके भीतर है, उसे लेकर वह व्यक्ति अपना कार्यारम्भ कहांसे करे? बाहर आते ही उसे दीखेगा कि समाजके शीर्षपर इसके नेता बनकर बैठे हैं धनवान और सत्ताधीश। समाजपर उनका एकच्छत्र प्रभाव है। मन ही मन उनके प्रति सभी ईर्ष्यालु होकर, उनके पीड़क और शोषक प्रभुत्वको पूर्वका पुण्योदय मानकर सिर झुकाते हैं। चूँकि समाज भी उसी धनकी तृष्णासे पीड़ित है, इसीलिए वह बाध्य है कि धनकी अपेक्षा ही वह आदमीको बड़ा माने। और यही कारण है कि धनिकके धनके प्रति अन्दरसे ईर्ष्यालु होकर भी उसे ही समाजका शिरोमणि और सरदार माननेको वह लाचार है। निर्धन जो भी धनकी प्रभुतासे अज्ञानवश प्रभावित है, पर धनके

अभावमें, गरीबीमें, जहां वह पीड़ित है, दुखी है, जहां उसकी व्यथा है, वहां उसकी आत्मा दूसरेके सुख-दुखके प्रति भी खुली है। अर्थात् व्यथा ही एक द्वार है जिसमें होकर एक आत्माका दूसरी आत्मासे योग होता है। धनिकके हृदयमें इस व्यथाका द्वार भी रुद्ध हो गया है। उसकी सुख-सुविधा और विपुलताने उसे इतना प्रमत्त और जड़ बना दिया है, कि दूसरेके सुख-दुखके प्रति चैतन्य और सहानुभूतिशील हो सकना उसके लिए अशक्य हो गया है। उसे स्वार्थका कैन्सर (Cancer) हो गया है। उसकी समूची रक्त-प्रणालीमें इस कैन्सरके रेशे एकसे अनेक गुने होते जा रहे हैं। दैहिक कैन्सरसे भी यह आत्मिक कैन्सर अधिक घातक है। क्योंकि दैहिक कैन्सर तो एक व्यक्तिके शरीरका ही घात करता है। पर धनिकका यह आत्मघाती कैन्सर समूचे समाजके आत्माका घात कर रहा है।

तो धनिक तो चारों ओरसे जगतके प्रति अवरुद्ध और लापरवाह है। जगत उसके लिए महज़ उसके स्वार्थी शोषणका साधन और उसके भोगका सरंजाम है। जगत और समाजका मूल्य उसके लेखे यही है—कि उसके बीच वह विशिष्ट और बड़ा बनकर दीखे। औरोंको वंचित और तृषित रखकर, उनके दैन्य और छोटेपनको क़ायम रख, उनको उनकी हीनताका सतत बोध कराता हुआ, वह अपनी महत्ताका निरन्तर उपभोग करता रहे—समाज और जगतसे उसका सम्बन्ध केवल इतना ही है। वह बड़े-बड़े दान करता है, इसलिए नहीं कि अभाव-पीड़ितोंके दुखसे उसे हमदर्दी है, बल्कि इसलिए कि अगले जन्ममें यह दान चौगुने ऐश्वर्यके रूपमें फलेगा। लोक-परलोक, आत्मा, ईश्वर, धर्म —सभीसे उसका सम्बन्ध तो बस स्वार्थका सम्बन्ध है।

तो धनिक तो जड़त्वकी एक चट्टानके नीचे ही दबा है, वहां वह द्वार खुला ही नहीं है, जहांसे समाजके प्राणमें प्रवेश किया जा सके। वहां खतरा है कि उस चट्टानसे कहीं हम अपना ही सिर न फोड़ बैठें, तब अपने ही

खूनके सिवा और क्या हाथ लगने वाला है। समाजसे उस धनिकका कोई जीवित सम्बन्ध ही नहीं है। मात्र वहाँ तो स्वार्थका जड़ सम्बन्ध है। तब तो मानना ही चाहिए कि हमें जहांसे अपना काम आरम्भ करना है, वह समाजका वह निम्नतर धरातल है—जहां अभाव, पीड़न, दैन्य और त्रास ही चारों ओर फैला है। व्यथा ही व्यथा वहां चारों ओर घुल रही है। वहां आंसुओंका प्रश्रवण है—तरलता है। वहां तह हटानेकी उतनी ज़रूरत नहीं है। निरन्तर बह रहे रक्त, स्वेद और आंसूमें हाथ डालते ही सीधे मनुष्यका हृदय हाथ लगेगा। उस हृदयको अपने प्रेमसे, त्याग और सेवासे एकबारगी-ही समूचा पकड़ लेना है।

उन हृदयोंमें सबसे पहला जो बीजाक्षर हमें डालना है, वह यही—कि धनकी महत्तासे इनकार कर दो; धनकी तृष्णा, आर्तता और ईर्ष्यासे अपनेको मुक्त करो। यही एक रास्ता है जो पीड़नसे तुम्हें मुक्त कर सकता है और धनके ऊपर तुम्हें विजयी बना सकता है। धन यानी पूंजीके केन्द्रीकरणके साधन रूप ये जितनी मिलें, फ़ैक्टियां, कल-कारखाने हैं, इनमें कितना ही पैसा क्यों न मिले, यथा-साध्य जल्दीसे जल्दी इनसे अपनेको स्वाधीन कर लो। अपनी जीविकाको इन कल-कारखानोंके आश्रित न रखो। श्रमिको, याद रक्खो, ये कल-कारखाने और मिलें ही वे फौलादी दानव हैं, जिन्हें तुम्हारी छातियोंपर खड़े कर यह शोषणका दुष्चक्र चलाया जा रहा है। बड़े पैमानेपर श्रमिकोंके संगठन कर उन्हें गृहोद्योग, ग्रामोद्योग और हस्त-शिल्पकी ओर मोड़ा जाए। सहकारी पद्धतिपर इन योजनाओंका आरंभ होना चाहिए। लंबे समय तक बहुत मज़बूत पायोंपर सहकारी ग्रामोद्योग, गृहोद्योग, खादी-केन्द्र आदिकी कुछ विस्तृत प्रयोग-शालाएं चलाई जाएं। धीरे-धीरे मिल और फ़ैक्ट्रीके मज़दूरोंका ध्यान उस ओर खींचा जाए। उनके भीतर इस भावका प्रवेश कराया जाए कि स्थायी सुख-शान्तिका रास्ता सतृष्णतामें नहीं है। सरल जीवन-यापनके कुछ आदर्श मॉडेल बनाकर उनके सामने

रक्खे जाएं और इस तरह उन्हें उस ओर खींचा जाए।

पर हम तो राजनीतिमें लगे हैं। हमें अपने चुनावोंसे फुर्सत नहीं है। आज म्युनिसिपैलिटीका चुनाव है तो कल असेंबलीका चुनाव है। हमें प्लेटफॉर्म चाहिए, हमें माइक्रोफोन चाहिए, हमें पत्रकारत्व चाहिए। हम अपनी आवाज़को दिग-दिगन्तमें गुंजाकर अपने नेतृत्वको उद्घोषित करना चाहते हैं। पर इस निम्नतर स्तरमें, समाजके इस पीड़ित नरकमें जहां हमें निर्माणकी बुनियादें डालनी हैं, वहां इस सब आडम्बरको अवकाश नहीं है। वहां प्लेटफॉर्मसे शुरू करोगे—तो शुरूमें ही शासनका लाल सिगनल खतरेकी सूचना दे रहा है। और प्लेटफॉर्म तो इधर स्वार्थियोंका शस्त्र भी हो गया है। उसका मूल्य अब बहुत तेजोमान नहीं है। प्लेटफॉर्मसे बातें ही ज्यादा हो रही हैं, काम कम हो रहा है। गाँधीजीने बिड़ला और बजाजसे शुरू किया था सो एक सेवा-ग्राम भी रचनात्मक कार्यक्रमका एक सपूर्ण और सफल आदर्श उपस्थित नहीं कर सका। इसीसे कहा है कि श्रमिकसे शुरू करना है, धनिकसे नहीं। बापूकी बात वे ही जानें, वे महान हैं। उस रास्ते जाने-अनजाने पूंजीवादको अपनी श्रीवृद्धिमें प्रश्रय और बल ही मिला है। पूंजीपतिके हृदय-परिवर्तनका तो एक भी सक्रिय उदाहरण सामने नहीं है। स्वयम् बापू ठीक अपने व्यक्तित्वके प्रभावतले यह नहीं कर पाए हैं—फिर बादकी तो प्रभु ही जानता है।

आज इतना ही, आगेकी बात फिर कहेंगे, पर सिलसिला यह टूटेगा नहीं—इसलिए कि आप हीकी अपनी आवाज़ सारे बन्धनोंको तोड़कर बोल उठी है—वह रुकेगी कैसे ?

★

पौराणिक आख्यान क्यों ?

[एक पत्र]

नारिकेल-वन, जुहू
बम्बई.........

प्रिय महिमा,

हाँ, इधर मेरी रुझान पुराण-कथाको नवीन कादम्बरीके रूपमें सँजोनेकी ओर गई है। जानकर तू चौंकी है और नाराज़ भी हुई है। इस चिट्ठीमें तूने मुझे तलब किया है। उसके उत्तरमें मेरा यह निवेदन है :

बाल्यकालसे ही अपने पौराणिक अतीतकी जो भव्य चरित्रसत्ता मेरे मनमें बसी हुई थी, वह आजतकके सारे वैचारिक ऊहापोहके बादभी धुल नहीं सकी है। जीवनकी जो गरिमा और दिव्यता तथा विराटका स्वामित्व करनेवाले मानवकी जो जाज्वल्य जीवन-लीला हमें पुराण-कालमें मिलती है, अपना आदर्श स्थापित करनेमें मनुष्यकी कल्पना आजतक भी उसके आगे नहीं जा सकी। दानवत्वसे मानवत्व, और मानवत्वसे देवत्वकी ओर ले जानेवाली जीवन-साधना उस युगमें अपने चरम उत्कर्षपर पहुँची थी। मानवीय पुरुषार्थने अपनी परमतम सिद्धियोंके ज्योतिर्बिन्दु उसी युगमें अंकित किए थे। एक ओर यदि जन-पदोंमें अपार ऐहिक ऐश्वर्यकी मोहन-माया थी, तो दूसरी ओर

अरण्योंमें अमरत्व-लाभकी अखण्ड साधना भी चल रही थी। विपुल लौकिक विभूतियोंके स्वामी स्त्री-पुरुष बात की बातमें उसे लात मारकर, अक्षय सुख की खोजमें जंगलोंमें चले जाते। उस युगके आदर्शोंकी जो गहरी छाप हृदय पर पड़ी है, उसके सम्मुख आजके वैज्ञानिक मनुष्यका यह प्रकाण्ड युग मुझे तो बहुत ही भयानक और अमांगलिक लगता है।

आजके इस अलक्ष्य प्रगतिवादी युगके सम्मुख अपने पौराणिक आदर्श को फिरसे नए रूपमें मूर्त करनेका स्वप्न देखते समय, मनमें यह भय ज़रा भी नहीं है कि आजका विचारक मुझे भावुक, प्रतिगामी और रोमांटिक कहकर सूलीपर टाँग देगा। बात असलमें यह है कि आजके विचारकको ऐसा करनेके लिए हम दोष नहीं दे सकते। वैज्ञानिक युगने जो दर्शन उसे दिया है उसके अनुसार, मनुष्यकी मनीषा (Mind) का निर्माण बाह्य वस्तु-जगतकी परिस्थितियोंके निमित्तसे होता है, न कि मनुष्यकी स्वतन्त्र चेष्टा (Initiative) और सपनेसे बाह्य सृष्टिका प्रादुर्भाव। इस दर्शनके वातावरणमें निपजे और पले आजके विचारकको अपने आसपासकी पार्थिव जगतीसे परेका स्वप्न देख सकनेवाली अपनी अन्तर्दृष्टिपर ही अश्रद्धा हो गई है। पर इसका अर्थ यह तो नहीं हो सकता कि वह अन्तर्दृष्टि ही नष्ट हो गई है। भीतरका वह ज्ञाता-दृष्टा आत्म-देवता तो समग्र सृष्टिका सारभूत सत्य है। वह है, इसीसे सृष्टि है और उसका ज्ञान-परिज्ञान है। यही कारण है कि इन सारे विपर्ययोंके बीच भी वह अन्तर्दृष्टि रह रहकर जाग उठती है, पर मनुष्य अपने बाहरी परिस्थितिक पीड़नकी प्रतिक्रियाके वश हो उसे मिथ्या कहकर इनकार कर देता है।

आज वस्तुवादी संघर्षने मानवको रक्तके समुद्रमें डुबो दिया है। हक़ीक़तके अहंकारने उसे छिन्न-विच्छिन्न कर दिया है। वह चारों ओर हाथ-पैर मार रहा है, पर बाहरके वस्तु-जगतमें उसे कहीं भी त्राण नहीं दीख रहा। एक राष्ट्रके पास यदि अणुबमकी सर्व-ग्रासिनी शक्ति है, तो दूसरा

उससे भी प्रबल सर्वनाशी शक्ति 'कॉस्मिक-पॉवर' बनाकर उसे ललकार रहा है। चारों ओर आत्म-नाशका अकाण्ड ताण्डव चल रहा है। मनुष्यके आत्म-घातका यह दृश्य किसी भी कल्पनीय दानवतासे अधिक भीषण है। अब वह क्षण आ पहुंचा है, जब भीतर झाँके बिना उसका निस्तार नहीं है। आत्म-देवताका प्रतिनिधि, युगके चौराहेपर खड़ा उसी प्रकाश-पथकी ओर संकेत कर रहा है।

शायद ऐतिहासिक मुझसे पूछेगा कि अपने रोमांसके जिस पुराण-युग की बात मैं करता हूं उसका अस्तित्व इस धरतीपर कभी रहा भी है? और यदि हां, तो उसका मेरे पास क्या प्रमाण है? क्या वह मात्र कविकी कल्पना या अतिरंजन ही नहीं है? भले ही वह कविका अतिरंजित स्वप्न हो, मैं उस युगकी पार्थिव सत्ताको सिद्ध करनेके लिए किन्हीं स्थूल प्रमाणोंका कायल नहीं। ऐतिहासिक और वैज्ञानिकके तथ्य-दर्शनसे मुझे कविके कल्पना-मूलक सत्य-दर्शनमें अधिक श्रद्धा है। जो पदार्थ कल्पनीय है उसकी सत्ता असंभावी नहीं हो सकती। अतिरेक उसमें हो सकता है, पर उससे समूचा इनकार नहीं किया जा सकता। अनन्त गुण और पर्यायोंवाली इस विराट सृष्टिमें अपने सीमित ज्ञान-विज्ञानको लेकर किस बातको स्वीकार और इनकारका दावा हम कर सकते हैं? आजके वैज्ञानिक युगने जो संभव कर दिखाया है, विगत कलके मनुष्यके लिए वह सब एक असम्भाव्य स्वप्नसे अधिक और क्या था? मनुष्यके स्वप्नकी वह सृष्टि चाहे विगतमें व्यतीत हो चुकी हो, अथवा अनागत कालमें उसका प्रादुर्भाव हो, तात्विक दृष्टिसे दोनों ही बातोंका मूल्य और महत्व समान है।

प्रगति या विकास एक अन्तहीन सीधी रेखामें नहीं होता। कहीं न कहीं जाकर रेखाके दोनों छोर फिर एक ही बिन्दुपर आकर अनिवार्यतः मिलेंगे ही। यह रेखा-गणितका एक स्वयम्-सिद्ध सत्य है। सृष्टिका विकास-क्रम भी एक चक्रके ही रूपमें चल रहा है। कालके प्रवाहमें वस्तु अपने

अनन्त गुण-पर्यायोंके रहस्य खोलती हुई नव-नवीन रूपोंमें प्रकट होती है। स्वरूपोंका पुनरावर्तन भी इस विकासमें असंभव नहीं। इसका सबसे अच्छा प्रमाण हमारी वेश-भूषा, रहन-सहन, कला-शिल्प, चित्र-शिल्प, वास्तु-शिल्प आदिमें मिलता है। आज हम अपने ही देशमें देखें—रमणियोंकी वेश-भूषा, केश-सज्जा और अलंकारके जो आकार-प्रकार और स्वरूप हज़ारों वर्षों पहले विगत हो चुके थे, किंचित रूपान्तरके साथ आज फिर वे ज्योंके त्यो अपनाए जा रहे है। हमारे नवीन युगके स्त्री-पुरुष उन रूप-सज्जाओं (Designs) को अप-टू-डेट कहकर अपनाते हैं; और उन्हें धारण कर अपनेको कृतार्थ अनुभव करते हैं। कलामें, शिल्पमें, चित्रमें, वेश-भूषामें क्लासिकल डिजाइनकी मानों एक हवा-सी बह चली है। बम्बई हिंदुस्तानमें नवीनतम फैशनोंका केन्द्र है। अजन्ताके चित्र-मंडपकी रमणियोंके वेणि-बंधनका दर्शन आज हम बम्बईकी प्रत्येक नवीनाके 'अम्बोड़े' में कर सकते है। कानोंमें विचित्र प्राचीन कुंडलों और कर्ण-फूलोंका आभास देनेवाले बड़े आकारके टॉप्स पहने जाते है। प्राचीन कालके चौड़े कंकण और सिंह-मुखे वलय फिरसे आधुनिकाओंका प्रियतम अलंकार हो गया है। काँच-खंडों से जड़ित रंग-बिरंगे कसीदोंवाली चोलियाँ और चनिये, जिन्हें हमारा भद्र स्त्री-समाज कभीसे छोड़ चुका था और जो अब मात्र देहाती और जंगली लोगोंमें ही प्रचलित है, हमारी आजकी कॉलेज-कन्याका दुर्लभ और विचित्र शृंगार हो गया है। पुराने चँदोवों और भीत-चित्रोंके अनुकरणपर टेढ़े-मेढ़े स्थूल डिज़ाइनोंके चित्र सजावटकी सामग्रियोंमें बनाकर आजका चित्रकार अपनेको धन्य मानता है। नएसे नए अमेरिकन ढंगके क्यूबिक वास्तुपर बने विशाल भवनोंके द्वार प्राकृतिक और असुघर गुफाके आकारके बनाए जाते हैं। इन उदाहरणोंसे वस्तुके रूप-परिवर्तनमें पुनरावर्तनका सत्य और परम्पराकी अविच्छिन्नता खूब ही अच्छी तरह प्रमाणित हो जाती है।

तब मानना चाहिए कि वस्तुकी रूप-रचनाका परिवर्तन (Formal

change) ही विकासका चरम सत्य नहीं है । परमतम विकासका सत्य बहुत ही गहन और सूक्ष्म है । रूप-परिवर्तनका यह चक्र तो केवल हमें वस्तुकी अनन्त गुण-पर्यायिक क्षमताका परिज्ञान कराता है । यह ज्ञान जब परिपूर्ण हो जाता है तो हम इस चक्रकी केन्द्रीय धुरीपर पहुँचकर, इस सारे परिणमनके अबाध स्वामी हो जाते हैं। यही केन्द्र हमारे विकासका चरम लक्ष्य है; यहाँ आकर वर्तुल अपने केन्द्र-बिंदुमें लय हो जाता है।

विकास और प्रगतिके इस नियमके अनुसार यह माननेमें कोई बाधा नहीं रह जाती कि सुदूर पौराणिक अतीतमें मनुष्य अपने अभ्युदयकी चरम सीमापर पहुँचा था। आजके विज्ञानने जो भौतिक सिद्धियाँ प्राप्त की हैं, सम्भवतया उससे कहीं अधिक बड़ी लब्धियां पौराणिक मनुष्यने पाई हों। मोह-मुक्त नज़रसे देखें तो पुराणोंकी कथाएँ मनुष्यके उस परमतम आत्मिक और भौतिक ऐश्वर्यकी साक्षी दे रही हैं । उसके प्रति अश्रद्धा प्रकट करना हमारे संकीर्ण मनका अहंकार है; वह अपनी ही आत्म-सामर्थ्यमें अविश्वास करना है।

मेरी यह दृढ़ प्रतीति है कि आत्म-दर्शनके उस आदर्शकी आवश्यकता आजके इस जलते क्षणके आत्मघातसे पीड़ित मनुष्यको सबसे अधिक है। मेरे भीतरके उसी अनिवार्य अनुरोधका परिणाम है—पौराणिक सृजनकी ओर मेरी यह रुझान । आज इतना ही। अगले शिशिरमें जब तू यहाँ आएगी तो मिलनेपर विशेष चर्चा हो सकेगी ।

जुहूके नारियल-कुंजोंसे झाँकती तेरी प्रिय सागर-वेला तुझे पुकार रही है। आना ज़रूर।

सस्नेह

तेरा वीरेन भाई